

पालि त्रिपिटक में सृष्टि प्रक्रिया

“Theory of Creation in Tripitakas”

अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय की पी०एच०डी० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्धम्सार



निर्देशक
प्रो० सत्य प्रकाश सिंह

प्रस्तुतकर्त्री
कु० रिजवाना बेगम शम्सी

संस्कृत विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय,
अलीगढ़।

१९८४

प्रबन्धसार

दृष्टि रक्षा सम्बन्धी विचार बलि प्राचीन हैं। इस क्रम में त्रिपिटक की चौड़ी देर में बलि हैं। का: इनके अध्ययन के लिए बाव-रक था कि हम वेदों तथा उपनिषदों के दृष्टि सम्बन्धी विचारों का कुछ विवरण प्रस्तुत करें। इस दृष्टि से अध्ययन करने का फल यह हुआ कि हमें इस बात की जानकारी हो जाती है कि बुद्ध का धर्म कोई नया धर्म नहीं है बल्कि वेदों की ही पुनरावृत्ति मात्र है केवल इसमें कहीं कहीं छिटपुट कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया है।

यह प्रबन्ध द्वा: अध्यायों में विभक्त है जिसमें प्रथम अध्याय वैदिक दृष्टि सिद्धा की "भूमिका" के रूप में रखा गया है। द्वितीय अध्याय में बुद्ध के पूर्ववर्ती विचारकों की जो धारणाएँ हैं उन्हें रखा गया है। तृतीय अध्याय में इन विचारकों के ऊपर बुद्ध ने जो बालीकता की है उसका वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में बुद्ध के चार मुख्य सिद्धान्तों का विवेक है। पाँचवें अध्याय में बुद्ध के अनुसार दृष्टि प्रक्रिया कैसी होती है उसका विस्तरेणन है। षष्ठ अध्याय में विभिन्न लोकों एवं योनियों का वर्णन है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत यह क्लाने का प्रयास किया गया है कि बुद्ध के बहुत कुछ सिद्धान्त केवल उपनिषदों से मिली चुली हैं। बुद्ध स्वयं स्वीकार करते हैं कि जिस धर्म की उन्होंने तौष की है वह एक प्राचीन बाले मार्ग है और नित्य धर्म है। इस अध्याय में वैदिक दृष्टि प्रक्रिया

का वर्णन किया गया है जिसके आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि किस प्रकार बौद्ध दृष्टि प्रक्रिया, वैदिक दृष्टि प्रक्रिया से प्रभावित है और किस प्रकार स्वतन्त्र है। स्वर्ग कल्पना, नरक कल्पना, कर्म में वास्था, लोक-परलोक सम्बन्धी धारणा, देवी देवताओं की परिकल्पना बौद्ध तथा वैदिक दृष्टि विज्ञान में एक वैसी है किन्तु इन देवताओं को वैदिक युग में जगत् का निर्माता सका पालन हार माना गया है। बुद्ध इस बात से सहमत नहीं हैं। उन्होंने कहा है कि इन देवताओं को शक्ति काश्य प्राप्त है किन्तु जगत् निर्माण एवं संसार प्रवृत्ति में इनका कोई महत्त्व नहीं है।

प्रस्तुत अध्याय में आत्मा का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। आत्म-आत्मा के विषय में बुद्ध के समय में कौन सा प्रचलित था। बुद्ध उपनिषदों की आत्मवाद से सहमत है कि नहीं इसकी चर्चा तृतीय अध्याय में की गयी है। उपनिषदों में आत्मा के विषय में विशेष रूप से वर्णन मिलता है इस कारण प्रस्तुत अध्याय में आत्मा का विशेष रूप से वर्णन है जिससे ज्ञात हो सके कि बुद्ध उपनिषदों के आत्मवाद से क्या तात्पर्य समझते थे एवं उनका आत्मवाद का क्या उद्देश था।

द्वितीय अध्याय में उन कतिपय साधु विचारकों के विषय में चर्चा की गयी है जो बुद्ध से पूर्व थे और जिनका मतान् बुद्ध के साथ पवित्र सम्बन्ध था। इन विचारकों के नाम हैं- पूर्ण काश्यप, मत्सरी, गोशाल, वज्जिसेकम्बली, प्रमुथ कात्यायन, सज्जसेकम्बली, निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र।

पूर्ण काश्यप और मत्सरी गोशाल में से एक ब्रह्मवादी था और दूसरा कारणवादी। इन दोनों के विचार बुद्ध इस प्रकार से वर्णित किये गये हैं कि जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि ये दोनों

दृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी ज्ञे को नहीं मानी वे उनके मत से दृष्टि स्वयं ही प्रकट होती है और स्वयं ही लीन हो जाती है ।

प्रबुद्ध कात्यायन कूततावादी थे । उनके मत के अनुसार पृथ्वी, जल, वायु, सुख, दुःख एवं जीवन ये सात तत्त्व कूत कर्मात् अनिर्मित हैं । बुद्ध ने इन सातों तत्त्वों को अपनी धर्म में देखा और फिर कहा- ' सम्पूर्ण जीवन दुःख है । इस दुःख का कारण है हमारी अपनी तृष्णा जिसके कारण मृत्यु भटकता हुआ इस संसार में फिर रहा है । उन्होंने त्रिपिटक में दुःख के विषय में स्पष्ट कहा है- ' जन्म , दुःख , मरण , शोक , परित्यक्त , दीनत्व , वृद्धि का संयोग , प्रिय का वियोग इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख के कारण हैं । शारीरिक भागों से पीड़ा छुटाकर इसे दूर भागा जा सकता है । इस प्रकार इन दार्शनिकों की विभिन्न प्रकार की कौड़ी धारणाएँ थीं । इस कथानक को शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत रखने का तात्पर्य यह था कि बताया जा सके कि कौड़ी से पूर्व किन किन दार्शनिकों के मतों को बुद्ध ने अपनी उपदेशों में शामिल किया एवं किन को खर्चा दूर रखा ।

इन दार्शनिकों में आत्मा विषयक धारणाएँ या कल्पनाएँ भी थी । कुछ इनमें से आत्मा को नित्य मानते थे कुछ अनित्य ।

इसके अतिरिक्त कुछ आत्मा सम्बन्धी धारणाएँ परसे से चली आ रही थीं जिनकी संख्या ६२ बतायी जाती है । इन धारणाओं से वापस में मानेद होता था । कुछ कहते थे आत्मा शाश्वतवादी है, अन्यायों का कहना था कि आत्मा शान्त- अन्तःवाद है, कुछ उसको नित्य अनित्यवाद के नाम से पुकारते थे । मृत्यु इन धारणाओं में कौड़ी दुःख और वेदनाओं के अन्त को नहीं सम्झते थे ।

इन सब विचारों की श्रान्ति में बुद्ध का वाचि-

माँव हुआ था । बुद्ध ने इन ६२ धारणाओं में से किसी एक धारणा को भी 'हाँ' या 'न' के उत्तर में नहीं माना । उनके अनुसार इस प्रकार की धारणा केवल भ्रम में ही ठाकती है और इन सबसे हटकर उन्होंने एक नये धर्म की सीख की जो उक्त प्रकार की धारणाओं से अलग : विशुद्ध बल या वीर जो बौद्ध धर्म के नाम से जाना जाता है। बुद्ध का कथन था कि इस प्रकार की बातों में न प.कर मनुष्य को निर्वाण का रास्ता ढूँढना चाहिए । वात्म-जनात्म सम्बन्धी बातों को तो उन्होंने अव्याक्त कहा है ।

तृतीय कथ्याय में उन धारणाओं की चर्चा की गयी है जो बुद्ध के समय में प्रचलित थीं एवं जिससे बुद्ध प्रभावित थे । किन्तु कहीं कहीं उन्होंने पूर्वाक्त धारणाओं की कड़ी बालीचना भी की है ।

इस बालीचना के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात परमसत्त्व के विषय में है । बुद्ध पूर्ण विचारधारा इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानती है। बुद्ध इसका तुल्य विरोध करते हैं । उन्होंने इस प्रकार की धारणा रखने वालों का एक प्रकार से उपहास किया है । कनैद में जो 'नासदीय सूक्त' है उसमें इस सम्पूर्ण विश्व को एक ईश्वर द्वारा निष्पन्न माना है। वहाँ कहा गया है- 'वह विविध रूपों वाली सृष्टि जहाँ से आयी है उसको उसने या तो धारण किया था वीर अगर नहीं तो किसी धारण किया था ? जो इसका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ स्वर्ग में है वही निश्चित रूप से इसे जानता है, या तो वह भी नहीं जानता (तो फिर कौन जानता है) ।

उपर्युक्त ईश्वर के सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान के विषय में जो अनिश्चयात्मकता प्रकट की गयी है सम्भवतः उसी को आधार मानकर बुद्ध ने ब्रह्मा वादि की सृष्टिकर्ता के रूप में मानने से इन्कार किया है । बुद्ध कई तार्किक थे । उन्होंने कहा कि त्रैविम ब्राह्मणों में एक ब्राह्मण ऐसा नहीं है जिसने ब्रह्मा को

वफ़ी वांछ है देता हो। कुछ ऐसे व्यक्तियों को जो बिना देते ईश्वर की वृष्टि बताते हैं वन्धों से उपमा देते हैं।

कुछ के अनुसार सम्पूर्ण वृष्टि जब एक ईश्वर द्वारा संवालिती होती है तो फिर इस संसार में कुछ दुःख क्यों होते हैं? कहा जाता है कि ईश्वर कृपावु है तो जब संसार में दुःख देते जाते हैं तो उन सबका जिम्मेदार तो ईश्वर हुआ। इसलिए यह समझ लेना कि समस्त संसार एक ईश्वर द्वारा संवालिता है एक निराधार कल्पना है।

कुछ के कहने का तात्पर्य यह था कि हमें यह जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए कि हम किसी द्वारा निर्मित हैं क्या यह वृष्टि कहाँ से वायी है? हमें अपने प्रत्यक्ष जीवन की कमियों को दूर करना चाहिए। इसके लिए कोई ईश्वर की शरण लेना पकरी नहीं है। कुछ के अनुसार तो मनुष्य अपने कर्मों के बल पर ही कुछ दुःख भोगता है और जब कर्म ही प्रधान है तो फिर वृष्टि कर्तृत्व का किसी ईश्वर पर आरोप कर उसे ही अपने दुःखों का उत्तरदायी क्यों ठहराया जाय?

कर्म सिद्धान्त में वात्सा, पुनर्जन्म और मोक्ष का विचारण की संभावना तथा संसार और जीवात्मा की अनित्यता उपनिषद् तथा कुछ के उपदेशों में एक समान है। किन्तु वात्सा और मोक्ष के विषय में उनका कोई स्पष्ट कथन नहीं मिलता। स्पष्ट कथन न होने के कारण बहुत से विद्वान् इस प्रकार की धारणा रखते हैं कि कुछ ने उपनिषदों में उल्लिखित वात्सवाद की बालीचना की है। वात्सवाद का शाब्दिक अर्थ है- क्- वात्स- वाद अर्थात् 'वात्सा के ज्ञान का सिद्धान्त'। वात्सि शब्द है अन्तः (नहीं वात्सा) जिसका सहारा लेकर अनेक विद्वानों एवं दार्शनिकों ने कहा कि यहाँ वात्सवाद से तात्पर्य उस वात्सा से है जो उपनिषदों में वर्णित है।

सर्वप्रथम उस बात को यहाँ स्पष्ट करना होगा कि उपनिषदों में वात्मा का वर्णन 'वात्मावाद' नाम देकर किया गया है जबकि बुद्ध ने भिक्षुओं को 'कात्मावाद' का उपदेश दिया है। यह वात्मा उपनिषदों में उल्लिखित वात्मावाद से भिन्न है। त्रिपिटकों में कात्मावाद का उपदेश रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान के माध्यम से दिया गया है। बुद्ध ने सर्वप्रथम कात्मावाद का उपदेश पंचगोत्रीय भिक्षुओं को दिया। उन्होंने कहा- "भिक्षुओं! रूप वात्मा नहीं है, क्योंकि इसमें रोग होता है, रूप के संबन्ध सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि मेरा रूप ऐसा ही मेरा ऐसा नहीं है। वेदना, वात्मा नहीं है, विज्ञान वात्मा नहीं है क्योंकि विज्ञान में रूप होता है और हम विज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कह सकते कि मेरा विज्ञान ऐसा है। इसी प्रकार भिक्षुओं! संस्कार वात्मा नहीं है, वेदना वात्मा नहीं है। और जो अनित्य है वह दुःख है विपरिणाम धर्मा है।

उपसृक्त वक्ताओं से स्पष्ट होता है कि मगवान् बुद्ध पाँचों स्कन्धों रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान में से किसी को भी वात्मा मानने को तैयार नहीं थे। उपनिषद् युग में माना जाता था कि सूर्य में जो वात्मा है वही शरीर में भी है। वानन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय इन पाँचों क्षेत्रों में यही वात्मा कार्य करता है। मृत्यु के पश्चात् यही वात्मा इन क्षेत्रों के परे जाता है। बुद्ध ने इन पाँच क्षेत्रों को पंचस्कन्ध कहा और उसको निम्नलिखित रूप से रखा -

बुद्ध- उपनिषद्

रूप- मनोमय

वेदना - अन्नमय

संज्ञा - प्राणमय

संस्कार- वानन्दमय

विज्ञान- विज्ञानमय

बुद्ध का कहना था कि इन पंच स्कन्धीयों और चार महाभूतों पृथ्वी, जल, तेज, वायु से मिलकर ही मनुष्य का शरीर बना है किन्तु ये सब वात्मा नहीं हैं ।

बालीयना की दृष्टि से तीसरा यह वाद धार्मिक वाद कहलाता है । वेदों में उत्तिष्ठति शास्त्रवाद की बुद्ध ने कुछ कर बालीयना की है । उपनिषदों में इसी शास्त्रवाद को ब्रह्मवाद कहा गया है। इस शास्त्रवाद एवं ब्रह्मवाद का विरोध कर बुद्ध ने कहा संसार की सारी वस्तुयें अनित्य हैं। ऐसा मानने पर स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् दोनों ही धार्मिक हैं । वेदान्त के सूत्र अर्थात् नित्य को अनित्य, वात्मा को जनात्म और ध्यानन्द को दुःख कह कर बुद्ध ने एक नयी विचारधारा बलायी जो बाद में धार्मिकवाद कहलायी ।

‘प्रत्येक वस्तु है’ एक यह पता है और ‘प्रत्येक वस्तु नहीं है’ यह दूसरा पता है । ये दोनों पता एकान्तिक हैं। बुद्ध ने इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया । उनका कथन है कि जीवन संभूति है, भाव रूप है। दुनिया की सभी वस्तुयें अनित्यधर्मों के संघात पर टिकी हैं । कतः वे अनित्य हैं । उनमें उत्पाद है, स्थिति है और निरोध है । यही बुद्ध का अनित्यता का सिद्धान्त है।

बुद्ध के उक्त वर्णनों का तात्पर्य यह था कि मनुष्य ईश्वर, वात्मा, जनात्मा इत्यादि के चक्कर में न पड़े इन बातों की जानकारी से दूर भागे क्योंकि यदि वह नित्य- अनित्यवाद के चक्कर में पड़ेगा तो उसे संसार की सब वस्तुयें नित्य लैगी और इन वस्तुओं की पानि की इच्छा में वह अपना सारा समय बर्बाद कर देगा और निर्वाण नहीं पा लेगा जो जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी प्रकार यदि मनुष्य ईश्वरवाद- जनीश्वरवाद, वात्म-जनात्मवाद के विषय में विचार करेगा तो उसका समय नष्ट होने के बराबर कुछ प्राप्त नहीं

होगा क्योंकि उस प्रकार की बातों की जानकारी के बाद भी जुड़ापा जाता है, दुःख मिलता है, प्रियजनों का वियोग होता है, परेशानी जाती है। इसलिए इन बातों को छोड़कर मोक्ष की कामना करनी चाहिए।

क्षुर्य अभ्यास बौद्ध धर्म के चार मुख्य सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करता है। यहाँ बताया गया है कि बुद्ध का आत्म-आत्मवाद, ईश्वर-कील्लखवाद कर्मवाद एवं साणभंगवाद के उपर्युक्त देने से क्या तात्पर्य था। यहाँ पहले यह स्पष्ट किया गया है कि बुद्ध ने उपनिषद्वादी में उत्तिष्ठति आत्मवाद की आलोचना नहीं हुई है। उनके आत्मवाद के उपर्युक्त का तात्पर्य यह था कि संपूर्ण मन अनित्य है। बुद्ध ने उपनिषद्वादी के आत्मवाद की आलोचना की है इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। यदि बुद्ध का अभिप्राय आलोचना होता तो वे विस्तार के साथ इसका वर्णन करते। जहाँ कहीं उन्होंने चार बार्थ उत्थी और प्रीतिव अनुत्पन्न धर्मी की नित्यता तथा अनित्यता का उपर्युक्त दिया है वही कुछ बुद्ध आत्मवाद के विषय में भी कहा है। इसी कारण जब निम्न बुद्ध के आत्मा के विषय में प्रश्न करते थे तो वे मौन धारण कर लेते थे। इस मौन का अभिप्राय लोगों ने यह लिया कि उनको आत्मा के विषय में जानकारी नहीं है जव्वा वे जानकर मौन रखते हैं, किन्तु यह बात सत्य नहीं है न वे जानकर मौन धारण करते थे और न उन्होंने उपनिषद्वादी के आत्मवाद की आलोचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध का आत्मवाद के उपर्युक्त से तात्पर्य मृत्यु की विमुक्ति के मार्ग पर लाना था ताकि मृत्यु जीवन में भव रोग के मुक्त हो जाय। जब मृत्यु भव रोग के मुक्त हो जायेगा तो वह निर्वाण के मार्ग की ओर स्वयं ही अग्रसर हो जायेगा।

बुद्ध की बहुत से विद्वान् नास्तिक भी मानते हैं, क्योंकि बुद्ध ने सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर जव्वा ब्रह्म की आधार नहीं माना है इस कारण वे नास्तिक हैं। वेदों ने अपनी धर्म में ईश्वर की भी स्थान दिया

या वह स्थान बुद्ध ने कर्म को दिया। इस कारण भी बहुत से विद्वान् उनको नास्तिक समझते हैं। किन्तु बुद्ध नास्तिक नहीं थे ऐसा माना जा सकता है, क्योंकि बुद्ध ने विभिन्न में कहीं भी ईश्वरवाद के विषय में चर्चा नहीं की।

2- उन्होंने किसी प्रकार की देवी शक्ति को स्वीकार नहीं किया।

3- ईश्वर या ब्रह्मा सृष्टि कर्ता नहीं हो सकता यह बात बुद्ध ने लोक स्थलों पर कही है।

4- कलावस्तु में जहाँ हर विषय पर वाद-विवाद किया गया है, उस एक अपरिवर्तन शील सत्ता के विषय में कहीं उल्लेख नहीं है।

5- वाराणसी में परमसत्ता के विषय में दिया गया उपदेश कि न सत् है, न असत् है, न दोनों ही हैं और न उनमें से अन्योन्य है, यह वाक्य प्रकट करता है कि बुद्ध परमसत्ता के विषय में निरीक्ष नहीं करते।

उपर्युक्त कथनों के आधार पर बुद्ध को नास्तिक नहीं कहा जा सकता।

सृष्टि की उत्पत्ति में ब्रह्म को कर्ता धर्मा न मानने ने कई और कारण हो सकते हैं। उस समय जनसाधारण में गलत धारणायें फैली हुई थी। देवी देवताओं को अत्यधिक ऊँचा स्थान दे दिया गया था। कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने देवताओं को संसार का प्रभु एवं समस्त संसार का शासक बना डाला था, और उनको यहाँ तक शक्ति दे दी थी कि वे मनुष्य की नियति को भी बदल सकते थे। बुद्ध ने इन सब धारणाओं को समाप्त करना चाहा किन्तु इस बात से यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि वे नास्तिक थे। हाँ इतना वास्तविक है कि उन्होंने अपनी वास्तविकता को प्रकट नहीं होने दिया।

बुद्ध ने अपनी धर्म में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान कर्म को दिया है। उन्होंने परमसत्त्व के विषय में तो मीन धारण किया क्योंकि परम सत्त्व को कर्ता धर्ता माना गया तो स्वयं कुछ करने का सामर्थ्य पैकार हो जायेगा। काः इस संसार की योजना में सम्पूर्णतया कर्म की ही प्रधानता है। कर्म के बल पर ही मनुष्य को अच्छी एवं बुरी योनि में उत्पन्न होना पड़ता है। जिसके कर्म अच्छे हैं उसका जीवन सफल है। कर्मों के बल पर ही मनुष्य गति, प्रेतगति, तिरच्छान गति, नरक गति मिलती है। बुद्ध कर्म करने पर ही मनुष्य योनि में जन्म मिलता है। मनुष्य योनि उत्तम योनि है। नरक गति, प्रेत, गति, एवं तिरच्छान गति बहुत ही बराब गतियाँ मानी गयी हैं। इन गतियों में मनुष्यों को बहुत वेदनाओं का अनुभव होता है। देवगति में सब अच्छे साधन प्राप्त होते हैं।

बुद्ध ने उपनिषदों की धारणा का अनुसरण करते हुए पुनर्जन्म को तो स्वीकार किया है किन्तु दूसरी जन्म में दूसरा ही व्यक्ति होता है इस बात के वे मानने वाले हैं। उपनिषदों में वात्मा के प्राधान्य पर बल दिया गया है और कहा गया है कि वात्मा नित्य वीर स्थिर रहती है। उनके अनुसार यदि व्यक्ति पुन कर्म करता है तो उसकी वात्मा श्रेष्ठ योनि में उत्पन्न होती है, किन्तु बीदों में वात्मा को प्राधान्य न देकर कर्म को ही सर्वप्रधान माना गया है। जन्म का निर्णय कर्म के आधार पर ही होता है।

मरते समय मनुष्य की चेतना विद्यमान रहती है, केवल कर्मों के बल पर ही। वे कर्म उसके नये जीवन की कसकी बताते हैं। चेतना में इच्छा विद्यमान रहती है। इस इच्छा के कारण ही चेतना का मुकाब नवीन जीवन की वीर होता है। फिर चेतना अपना स्थान छोड़ देती है और कह दिया जाता है कि कुछ व्यक्ति मर गया। परमर्तों चेतना क्योंकि नये जन्म

जीवन में फिर से उत्पन्न होती है इसलिए उसे हम पुनर्जन्म कहते हैं ।
किन्तु परवर्ती जैसा नये जीवन में पूर्व जैसा नहीं वायी । यह वात्मा दूसरे
जीवन में इच्छा के कारण ही प्रीत करती है । इसी को पुनर्जन्म कहते हैं ।

जाण मंगुर बाद से बुद्ध का तात्पर्य था कि
संसार की सब वस्तुयें जाण संसृष्ट भर के लिए अपना रूप दिखाती हैं और लुप्त
ही जाती हैं । किन्तु यहाँ यह बात देना आवश्यक होगा कि भगवान् बुद्ध ने जिसे
वनित्य कह कर फुकारा है वह वस्तु नहीं प्रत्युत जैसा था । जैसा ही शरीर में
दिन रात बदलती रहती हैं । जो वस्तु जाण उन्हें पसन्द ही लगता है वही जाण
पसन्द न करे । उस बात को जाने के पीछे बुद्ध का तात्पर्य यह था कि शरीर
का इत्यादि कथार्थ वात्मा के रूप नहीं है । वे स्थायी भी नहीं हैं । मा दूसरे
जाण में दूसरा ही होता है। इस प्रक्रिया को जब अस्तित्व मात्र पर घटित होते
देखा जाता है तो वही जाणिकवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः देखा
भी जाता है कि समस्त संसार की वस्तुयें जाण भर के लिए अपना स्वरूप बोध
कराती हैं और तीव्र ही सूक्ष्म मात्र में परिवर्तित हो जाती हैं । इसी प्रकार के
प्रश्नों को जब बुद्ध से पूछा जाता था तो वे मौन धारण कर लेते थे । उनका क्या
था कि लोक सम्बन्धी विचार न प्रत्यय के योग्य हैं न शान्ति के लिए न वैराग्य
के लिए ही उपयोगी हैं ।

उक्त सिद्धान्तों की जानकारी करने के उपरान्त
मनुष्य का दृष्टान्त में नहीं पड़ता । संसार के मुक्ति का वह उपाय उक्त है और
निर्वाण की ओर बहस हो जाता है।

कैम कथाय दृष्टि प्रक्रिया का विश्लेषण
करता है ।

दृष्टि शब्द का अर्थ संसार रचना है । जीवन-

मरण परम्परा को संसार कहते हैं। कुछ चीजों के कुठार 'स्कन्ध' धातु एवं वायुतन से प्रतिपादित सत्त विद्यमान एवं बाधा रहित बहने वाली जो वस्तु है उसे संसार कहते हैं। इस संसार की चार महाभूतों पृथ्वी, अप, ऐश, वायु से निर्मित माना गया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये पाँच स्कन्ध कहलते हैं। इनसे मनुष्य का शरीर निर्मित होता है। प्राणी के शरीर की बीर मन की अवस्थाओं को पंच स्कन्ध कहते हैं। किन्तु ये स्कन्ध अनित्य हैं। स्कन्धों के अनित्य होने से जगत् को निर्माण प्रक्रिया भी अनित्य ही सिद्ध होती है।

मगवान् कुछ ने सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है-

ये धम्मा क्षु^६भवा एव तेण सथागतो^७कमपन्
अवसतप्प यो निरोधी एवं वादि महाजमणो ॥

क्षु से उत्पन्न होने वाले जितने धर्म हैं उसको सथागत बताते हैं, उनका निरोध भी बताते हैं।

मगवान् कुछ ने धर्म, क्षु, निरोध इत्यादि शब्दों के द्वारा जगत् के सार को अपनी उफँसों में समाहित किया है। इस सम्पूर्ण जगत् के समस्त तत्त्व कार्य कारण रूप से सम्बद्ध है जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। क्षुषा के कारण ही जगत् का प्रवाह चलता है और वन्त में निरोध के रूप में परिणत हो जाता है। जगत् के समस्त प्रपञ्चों का उपशमन कुछ की अवस्था का सूक्त है। इसलिए इसका निरोध वन्त में होता है। निरोध के समय संसारों का निरोध होना निश्चित है।

कुछ ने जगत् के विभाजन को अपनी उफँसों में बँधी कृत किया है जिससे विभक्त होने की क्रिया निःसन्दिग्ध हो जाती है। संसार के

समस्त तत्त्वों का विभाजन तीन प्रकार से हुआ है जिसका उल्लेख हमने पूर्व कथ्यायों में किया है। स्थूल रूप से यह जगत् नामरूपात्मक है। नाम, फल तथा मानसिक प्रवृत्तियों की एक सामान्य सत्ता है जिसे वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान रूप से विभक्त किया गया है। रूप जगत् के समस्त भूतों का बहिर्व्यक्त है। इससे ज्ञात हो जाता है कि नामरूपात्मक ही जगत् है। नामरूपात्मक जगत् की व्यावहारिक सत्ता है जिसका विवेक पूर्व कथ्यायों में यथासम्भव किया गया है।

जगत् का दूसरा विभाजन वाक्यन के रूप में किया गया है। वाक्यन का अर्थ प्रसृत मार्ग है। वाक्यनों की सहायता से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान के द्वारा ही हम इस संसार को जानते हैं। वाक्यन ही उसके साधन है।

जगत् का तीसरा विभाजन धातु के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसकी संख्या १८ है। धातु के वर्णन में काय धातु, रूप धातु, कल्पधातु जिनसे जगत् की सत्ता छिद्र होती है बौद्ध दार्शनिकों ने प्रमुख रूप से बहिर्व्यक्त किया है। स्वविरूद्धादियों के मत में धातु पित्त एवं क्लेशिक स्त्री परस्पर सम्बन्धित हैं। पित्तों के ८६ भेद हैं। क्लेशिकों के ५२ भेद होते हैं तथा इन्हीं भेदों के द्वारा जगत् की कल्पना का स्पष्टीकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त निर्वाण की कल्पना की गयी है जो कि अन्तिम कल्पना है। निर्वाण की उपलब्धि जीवन का चरण सत्य है जिसमें संसार की वास्तविक भिन्न जाती है।

दार्शनिक दृष्टि से संसार के विषय में विचार करने पर यह सीक्ता पड़ता है कि जिस जगत् की कोई सत्ता नहीं क्योंकि जो भ्रामरीचिक्ता के समान है एवं बौद्ध के विन्दुओं के समान है तथा गन्धर्व नगर के

समान माया से निर्मित है उस जगत् के विषय में विचार करना मिय्या वस्तु को सोचना है ।

इस संसार में समय समय पर प्रलय होता है फिर नये धिरे ने सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कर्मों के फलस्वरूप ही समय समय पर उत्पात होते हैं । जिस समय प्रलय होती है उस समय चारों ओर बन्देरा हा जाता है । रात और दिन का कही भी ज्ञान नहीं होता । सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सब लुप्त हो जाते हैं । फिर कुछ समय के बाद सृष्टि प्रारम्भ होती है। उस समय धीरे धीरे सुगन्धित वायु चलती है। वर्षा होती है । चारों ओर जल ही जल होता है । उस समय पैगवान वायु उठते हैं जिससे पानी छ्बर उधर नहीं जाने पाता एवं कुछ जल सूख जाता है । जल सूखकर नीचे उतर जाता है तो आकाश में ब्रह्म भूमियाँ उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर ऊपर की चार देव भूमियाँ उत्पन्न होती हैं । उन देव भूमियों में विमान वागे जाते सत्त्वों के कर्म के बल पर होते हैं । कुछ काल के अनन्तर उस जल में पूरुषी नामक बीज का उत्पाद होता है। उस समय पृथिवी का गन्ध दुध, मट्ठा, मक्खन एवं मधु के समान होता है । मधु के समान पूरुषी मधुर होती है । प्राणिजों की इस मधुर रस के प्रति आस्वादन की इच्छा हुई । इस इच्छा के कारण ही लोक की उत्पत्ति होती है। उसके बाद वामा खर नामक देवता वहाँ से च्युत होकर नीचे की ओर ब्रह्म भूमि में उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में से कुछ ब्रह्मा अपनी कर्म के अनुसार मनुष्य भूमि में मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं । जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है वह अधिक आशुमान एवं अधिक सम्मानित होता है। पूरुषी में आस्वादन की शक्ति होने के कारण उस का बाईं भाग नष्ट हो गया । उसका बाया भाग बहुत कठोर हो गया । पुनः कठोरता को प्राप्त होने के पश्चात् तरह तरह के बंगली धान उत्पन्न हुए । अनेकों प्रकार की बीजाधियों का निर्माण हुआ अनन्तर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ । वृष्णा के कारण जिन जिन प्रकारों में इच्छा का आविर्भाव होने लगा उन्हीं प्रकारों के आधार पर कर्म के विकास होने के कारण

समाप्त का निर्माण हुआ। अन्तर कर्माँ के शुभ अशुभ व्यवहारों के आधार पर ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय आदि जातियों की व्यवस्था हुई। पृथ्वी के वायुमय प्रकाशों में आविर्भाव के कारण स्वयं प्रभु सत्त्वों का अन्तर्धान हो गया। उनके अन्तर्धान होने के बाद चन्द्र और सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ। फिर नक्षत्र एवं तारागण उत्पन्न हुए। नक्षत्रों के उत्पन्न होने के बाद मास और वर्षावसरात्रि और दिन का परिज्ञान हुआ।

इस समयी पृथ्वी का उद्भावन करने के बाद एवं बहुत कास तक पृथिवी की स्थिति हो जाने पर सर्व भाव से स्थित रहने पर पृथ्वी के समस्त जीवों का पुनः विवर्त (नाश) हो जाता है। इस प्रकार संसार में प्रलय, फिर सृष्टि, फिर प्रलय चलता रहता है।

संसार का पर्यायवाची शब्द लोक भी है। इस लोक वर्णन की गच्छ कथाव में प्रस्तुत किया गया है। तीन प्रकार के लोक होते हैं - काम लोक, रूप लोक, अरूप लोक। काम लोक या काम भव में मनुष्य, तिर्यक, प्रेत एवं इः प्रकार के देवता निवास करते हैं। अन्य दो लोकों में देवता ही निवास करते हैं। इन लोकों की प्राप्ति कर्माँ के बल पर होती है। यदि मनुष्य इस लोक में अच्छे कर्म करता है तो उसे मनुष्य लोक की प्राप्ति होती है। बुरे कर्म करने पर प्रेत, तिर्यक एवं गन्धर्व आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता। देवताओं का जीवन सफल जीवन माना गया है। देवताओं को देवलोक की प्राप्ति पुण्य कर्माँ के बल पर होती है। उनका संसार में पुनः पुनः जन्म नहीं होता। उनको हर प्रकार के ऐश्वर्य देव लोक में प्राप्त होते हैं। मनुष्य जीवन को तुच्छ जीवन माना है एवं देव जीवन को वैश्व। मनुष्य के रूप में यदि जन्म होता है और यदि वह बुरे कर्म करता है तो नरक लोक की उसे प्राप्ति होती है जहाँ वह अत्यधिक दुःख कठिनायियों का अनुभव करता है। इस प्रकार के दुष्ट कार्य करने वालों के लिए बुद्ध ने

अन्य नरकों का वर्णन किया है जहाँ उन्हें वेदनायें ही वेदनायें मिलती हैं । नरक में उन्हें बल्ली चट्टानों पर बार बार फटका जाता है, लोहे के टीनों से पीटा जाता है, उनको गर्मी से तप्त पानी पीने को दिया जाता है जिससे उनकी प्यास नहीं बुकती , पापी प्राणी को पित्तकरी कुत्तों द्वारा खाने दिया जाता है इत्यादि । इसके विपरीत अच्छे कर्म करने वालों के लिए बताया गया है कि स्वर्ग में उनको दिव्य विमानों की उपलब्धि होती है। उनको अच्छे अच्छे स्वादिष्ट भोजन खाने को मिलती है। नृत्य गीतादि से उनका मनोरंजन होता रहता है।

इस प्रकार के उपायों से बुद्ध का मुख्य तात्पर्य यह ही एकता है कि समाज में जो बुराईयाँ हैं वे समाप्त हो जायें और व्यक्ति वह निर्वाण के मार्ग की ओर कदम हो जाय । वेतो भी मुख्य का यह स्वभाव होता है कि यदि उसको बुरी बात के लिए डराया जाय एवं अच्छा कार्य करने का थोड़ा प्रोत्साहित दिया जाय तो हुम्मत से वह उस कार्य को कर लेता है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार २६ देव लोक हैं जो एक के ऊपर एक स्थित किये जाते हैं। चातुष्काराणिक, तावतिन्ध याम, सुयाम, पुण्डित , निम्मानरति परिनिर्मितवसवतों एवं विश्वकर्मा काम लोक के देवता हैं । इन देवताओं को कामलोक को प्राप्ति शील, समाधि, प्रज्ञा आदि व्रतों का पालन करने के उपरान्त होते हैं ।

रूप लोक के देवता, महाब्रजा, सहस्रपति ब्रजा, परित्ताम , अम्भानाम, वायसरा, परित्तुबुध, अम्भानाणुम, सुमविष्णु , वैहत्फल, असम्पत्त, बुद्धावास एवं विबुद्धि देव हैं । इन देवताओं में महाब्रजा सबसे बड़े एवं सुन्दर देवता है। इन देवताओं को हर प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

अरूप लोक के देवता आकाशानन्दायान देव ,

विज्ञानानुवाकनदेव, अकिञ्चनवाकन देव एवं नैवसङ्गानुवाकन देव है ।

कभी देवताओं का परिज्ञान ध्यान के द्वारा होता है । चार प्रकार के स्थानों से उठकर जब योगी कल्पान फार्थों का ध्यान करने लगता है तो उसे अन्त वाकाश और अन्त विज्ञान का अनुभव होता है।

अकिञ्चनवाकन का कर्म कुछ न करने की शक्ति से रहित होता है। विज्ञानानुवाकन का कर्म है जिसकी संज्ञा का कोई वाक्यन नहीं है और अन्त विज्ञान का कर्म है ज्ञान और विज्ञान की अनुभूतियों का अनुभव न होना । अनुभूतियों तथा ध्यान का कोई रूप नहीं होता । वाक्यति रहित फार्थ केवल ध्यानावस्थित रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं । ततः कभी देवता का रूप देखा है उस सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं की गयी । उनका संसार में वागमन कैसे हुआ, उनका निर्माता कौन है इत्यादि प्रश्नों का समाधान अव्याज्य है । समस्त देवताओं में कुत्तर, सुगत देव मनुष्य के शस्ता भगवान् बुद्ध में जो शक्ति है वह तावजिन्स वादि देवताओं में नहीं है ।

यद्यपि उक्त देवताओं की शक्ति को बुद्ध स्वीकार करती है तो भी संसार की व्याख्या में वे इन देवताओं को कोई स्थान नहीं देते ।

लोक वर्णन कथाय को इस प्रबन्ध के अन्दर रखी का प्रयोगन इस बात की जानकारी कराना है कि दृष्टि प्रक्रिया जब ही जुड़ी तो उसके पश्चात् यह संसार किस रूप में अवस्थित है, कौन कौन से लोक हैं, कितने प्रकार के देवता हैं इत्यादि । इसके लिए चौड़ा भौगोलिक वर्णन भी प्रस्तुत किया गया है ।

कल्पनाओं का अन्त नहीं होता । संसार के विषय में जितना अधिक सोचा जायगा समस्या उतनी ही अधिक बढ़ेगी । तब

भी उन समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा । इसीलिए तो बुद्ध ने कहा था कि जो संसार मृगमरीचिका के समान दूर है वही भी सुन्दर लगता है वह पास जाने पर कुछ नहीं है एवं जो संसार पानी के बुलबुले के समान क्षण भर के लिए हमें सुख देने वाला है उसके बादि एवं वन्त के बबुल में क्यों पड़ना जाय । इसीलिए उन्होंने त्रिपिटक में लोक स्यल पर कहा है-

वन्तस्यैव भिक्खु संसारी
पुष्पा कोटि न पञ्चायति ।

000



पालि त्रिपिटक में सृष्टि प्रक्रिया

"Theory of Creation in Tripitakas"

अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय की पी०एच०डी० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध



निर्देशक

प्रो० सत्य प्रकाश सिंह

प्रस्तुतकर्त्री

कु० रिजवाना बेगम शम्सी

संस्कृत विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय,

अलीगढ़।

१९८४



T2884



THESIS SECTION

प्रावकथन

सृष्टि प्रक्रिया का अर्थ है 'सृष्टि रचना विधि' अर्थात् वह प्रक्रिया जिसके द्वारा यह संसार अस्तित्व में आया है। वास्तविकता तो यह है कि गौतम बुद्ध ने इस विषय में जिज्ञासा को निरर्थक बताया है। उन्होंने सामान्यतया इसकी चर्चा ही नहीं की है। यहाँ तक कि जब कभी भिक्षु इस सम्बन्ध में उनके सामने चर्चा भी करते थे तो इनसे सम्बद्ध विषयों को वे 'अव्याकृत' कह कर मौन हो जाते थे। उनका कहना था कि धर्म का प्रयोजन व्यक्ति के नैतिक जीवन का संशोधन है जिसके लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि यह समूचा संसार कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुआ है। स्वयं बुद्ध के शब्दों में जिस प्रकार जंगल में तीर से घायल व्यक्ति के उपचार के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि तीर मारने वाला गोरा था या साँवला था, बूढ़ा था, जवान था, बालक था, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा ब्राह्मण था। उसी प्रकार मनुष्य के अध्यात्म-संशोधन एवं विकास के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि यह संसार कहाँ से उत्पन्न हुआ है किसके द्वारा उत्पन्न हुआ है, कब तक अस्तित्व में रहेगा इत्यादि। फिर भी यह विषय रोचक तो है ही। स्वयं बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में इसकी रोचकता इस बात से प्रमाणित होती है कि बुद्ध के द्वारा बार बार मना किये जाने पर भी शिष्य समय समय पर इस सम्बन्ध में महती जिज्ञासा के साथ उनके पास आया करते थे। इस सम्बन्ध में जो कुछ भी बुद्ध ने कहा एवं जो कुछ नहीं भी कहा उसे स्मरण रखा और वही संयोगवश इस सम्बन्ध में त्रिपिटक में सुरक्षित है।

बौद्ध धर्म एक महान् धर्म है। इसने विश्व के
 अरबों लोगों को विगत सहस्रों वर्षों से स्नेह महती सान्त्वना और सन्तोष
 प्रदान किया है। अतः आरम्भ से ही मेरे मन में यह विज्ञासा बनी रही है कि
 मैं यह जानूँ कि इस महत्वपूर्ण प्रश्न के ऊपर भगवान् बुद्ध के क्या विचार रहे
 हैं, बुद्ध की दृष्टि में इतने विशाल और संश्लिष्ट संसार को कौन चलाता है,
 सारे पदार्थ कहां से प्रकट होते हैं, और कहां विलीन हो जाते हैं, व्यक्ति कहां
 से उत्पन्न होता है और कहां समा जाता है। इन सारे प्रश्नों ने मुझे इससे
 सम्बद्ध बुद्ध के विचारों का विस्तार के साथ विवेचना करने के लिए उत्प्रेरित किया।
 उसी प्रेरणा का फल है इस विषय का चयन और इसके ऊपर कई वर्षों का
 परिश्रम।

इस विषय के साथ जो कठिनाई है वह स्पष्ट
 ही है। भगवान् बुद्ध ने इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ संश्लिष्ट रूप में कहीं कोई
 व्याख्यान नहीं दिया। जो कुछ उन्होंने कहा भी वह सैक्तात्मक और नकारात्मक
 ढंग से कहा है। प्रायः तो उन्होंने कथ्य को अकथित ही छोड़ दिया है। अतः
 शोधार्थी के समक्ष यह समस्या उत्पन्न होती है कि वह उनके अपूर्ण, सन्निहत
 एवं यत्र तत्र बिखरे हुए कथनों एवं सैक्तों को किस प्रकार संगृहीत करके एक सुसम्बद्ध
 व्याख्या उपस्थित करे।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त
 किया गया है। इसका प्रथम अध्याय भूमिका स्थानीय है। इस अध्याय में बुद्ध
 से पूर्व हमारे देश में सृष्टि के सम्बन्ध में क्या धारणायें प्रचलित थीं इसका विवरण
 किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई भी विचारक अपनी सारी
 मौलिकता के बावजूद भी किसी न किसी अंश में अपने पूर्ववर्ती विचारकों एवं विचारों
 से प्रभावित होता है। स्वयं भगवान् बुद्ध की साधना उस समय तक प्रचलित सारे

मत भेदान्तरों के प्रति असन्तोष के कारण आरम्भ हुई थी। इन विचारों के भीतर वेद विशेष रूप से आते हैं। अतः वेदों में सृष्टि सम्बन्धी विचारों को भूमिका के बीच में रखना अत्यन्त आवश्यक था।

दूसरे अध्याय में बुद्ध से ठीक पूर्व उत्पन्न होने वाले और वेदों से स्वतन्त्र विचारणा में लीन विचारकों की सृष्टि सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत मन्त्रालि- गोसाल, प्रबुद्ध कात्यायन, अजितकेसकम्बली आदि विचारकों के मतों का परामर्श यहाँ किया गया है तथा यह देखने की चेष्टा की गयी है कि किस अंश में उन्होंने भगवान् बुद्ध के विचारों के उद्गम में सहायता की होगी।

तृतीय अध्याय में पूर्व कथित विचारकों, वेदों और उपनिषदों में सृष्टि सम्बन्धी जो बातें कही गयी हैं, उस पर भगवान् बुद्ध की प्रतिक्रिया का समालोचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सृष्टि के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् बुद्ध के मूल दार्शनिक विचारों का विश्लेषण किया गया है। इसकी आवश्यकता उनके सृष्टि सम्बन्धी विचारों को ठीक प्रकार से समझने के लिए थी। यह विचार बहुत ही विकीर्ण है। स्थान स्थान से उन्हें संगृहीत करके सुसम्बद्ध रूप में सामने रखने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय में सृष्टि के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध के विचारों की उपस्थापना की गयी है।

षष्ठ अध्याय में विभिन्न लोकों एवं उनमें रहने वाले निवासियों का वर्णन किया गया है। सृष्टि के विविध लोकों, उनमें रहने वाले प्राणियों, उनके सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों तथा उनसे उत्पन्न परिणामों के सम्बन्ध

में उपलब्ध सामग्री के आधार पर विवरण प्रस्तुत किया गया है।

बौद्ध धर्म पर्वत से निकलती हुई नदी की तरह उत्तरोत्तर उपजीवमान होता चला गया। अनेक देश देशान्तर में विचारक उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने अध्यसाय एवं साधना के द्वारा बौद्ध विचारों में दिनोदिन आध्यात्मिक विकास किया। फलतः इस धर्म एवं दर्शन से अनेक शाखायें प्रशाखायें फूट निकलीं, सबका विवेचन एक सीमित अवधि के भीतर करना प्रायः सम्भव है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल बौद्ध मूल विचारों को जो कि त्रिपिटक में सन्निहित है, प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत विषय पर छिट-पुट निबन्ध तथा पुस्तकों के अध्याय के रूप में विवेचन तो मिलते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में विशेष रूप से सारी बातों का विवेचन करने वाला कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इस कमी को पूरा करेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

अन्त में इस शोध प्रबन्ध के लेखन कार्य में जिन गुरुजनों एवं सहपाठियों का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम मैं अपने पूजनीय गुरु एवं निर्देशक प्रो० सत्य प्रकाश सिंह के प्रति जो पालि, संस्कृत, वेदादि के प्रकाण्ड विद्वान् हैं, सादर कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिनके सद्भावपूर्ण व्यवहार एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हुआ है।

संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० परमानन्द शास्त्री के प्रति भी सादर हृदय से आभार प्रकट करती हूँ जिनकी प्रेरणा एवं सत्परामर्श से ही इस शोध प्रबन्ध का विषय निर्धारित हुआ।

डा० रघुनाथ पाण्डेय जो मेरे भूतपूर्व निर्देशक थे, उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ क्योंकि जो पालि ग्रन्थ यहाँ उपलब्ध नहीं थे उन्हें उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त कराके मेरी सहायता की ।

अपनी सहपाठिनियों में इस्मत् जहाँ मल्लिक , सुधा गर्ग एवं अरुणा रानी चौधरी को भी मैं नहीं भूल सकती जिन्होंने पग-पग पर मेरे सौध कार्य में सहायता दी । मैं उनकी आभारी हूँ ।

विश्वविद्यालय के पुस्तकालय अध्यक्ष प्रो० मो० हसन रिज़वी साहब की भी मैं आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने यथासमय पालि ग्रन्थों को अन्य स्थानों से प्राप्त कराने की सुविधा प्रदान की ।

विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अधिकारी, स० अनवर अली की भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर पढ़ने वाली आवश्यकताओं पर पूरा सहयोग दिया । उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ ।

७ सितम्बर १९८४

कु० रिज़वाना बेगम शम्सी
कु० रिज़वाना बेगम शम्सी

विषयसूची

प्राक्कथन	पृष्ठ संख्या १-५
संक्षिप्त संहिता	-४

प्रथम अध्याय

भूमिका

१२-३२

द्वितीय अध्याय

३३-५३

बुद्ध पूर्व कुछ विचारक

पूरण कस्सप, मक्सलि गोसाल, अजितकेसकम्बली ,
प्रकुथ कच्चायन , संजयकेलट्ठिपुत्त, निगुण्ठ नाटपुत्त,
वासट्ठ प्रकार की मिथ्या धारणायें ।

तृतीय अध्याय

५४-८१

पूर्वतर धारणाओं पर भगवान् बुद्ध की बालीचना

अनात्मवाद, ईश्वर खण्डन, जाणिकवाद

बुद्ध के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त

ईश्वर- अनीश्वरवाद, कर्म और पुनर्जन्मवाद ,
पाँच गतियाँ, चार योनियाँ, जलज, जरायुज,
स्वेदज, उपपादुक , आत्म- अनात्मवाद, चाण-
मर्गवाद ।

बुद्ध के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया

सृष्टि शब्द का अर्थ, सृष्टि उत्पत्ति विचार,
चार महाभूत, सृष्टि का मूल स्वरूप, संसार के
सम्बन्ध में बौद्धों के अपने विचार, वैभाषिक मत
या बाह्यार्थानुमेयवाद, योगाचर या विज्ञानवाद,
माध्यमिक या सूत्र्यवाद, धर्मचक्र प्रवर्तन , प्रतीत्य-
समुत्पाद वर्णन, कल्प वर्णन, मनुष्यों की उत्पत्ति

लोक वर्णन

तिर्यक् सन्निवेश, कामावचर लोक, अरुपावचर लोक ,
पाँच गतियाँ, मनुष्य लोक, तिर्यक् लोक, प्रेत लोक ,
नरकलोक - स्वर्ग लोक, कामावचर लोक के देवता एवं

उनका निवास स्थान, चातुर्महाराजिक देवता, तावतिन्स देवता ,
 तुष्टित देवता, परनिर्मित वशवती देवता, विश्वकर्मा, शक्र, याम
 सुयाम देवता , रूपावचर लोक के देवता एवं उनका निवास स्थान,
 महाब्रह्मा, सहस्रपति ब्रह्मा , घटीकार ब्रह्मा, परित्ताम , अल्प-
 माणाम, आभास्वर, परित्तसुभ, अप्पमाणशुभ, शुभकिष्कि , वेहत्फल
 असञ्जसत्त, शुद्धावास, अरूपावचर लोक के देवताओं का निवास स्थान,
 आकासानञ्जचायतन देव, विञ्जाणनञ्चायतन देव । अकिञ्चाञ्जभायतन
 देव, नेवसञ्जानसञ्जभायतन देव । नाग, गन्धर्व, सृष्टि के प्रसंग में
 पालि निकायों में उपलब्ध कुछ भौगोलिक वर्णन, नगर द्वीप एवं
 समुद्र वर्णन, नदी सरोवर एवं पर्वत वर्णन, अनीत्तदह ।

संक्षिप्त सूची

ॐ०	कर्मवेद
सू० ब्रा०	सतपथ ब्राह्मण
मनु०	मनुस्मृति
शा० उ०	शान्दोग्योपनिषद्
स्त०	स्तरेय उपनिषद्
तैत्ति०	तैत्तिरीय उपनिषद्
मुण्ड०	मुण्डक उपनिषद्
क० उ०	कठोपनिषद्
अथर्व०	अथर्ववेद
प्रश्न०	प्रश्नोपनिषद्
वि०पि०	विनयपिटक
ध० स०	धम्मसंगहि
अभि०	अभिधर्म कोश
अभि० सं०	अभिधम्मसंगहो
द० व०	कथावत्थु
दी० नि०	दीघ निकाय
स० नि०	संयुत्ति निकाय
म० नि०	मज्झिम निकाय
व० नि०	अंगुत्तर निकाय
सु० नि०	सुद्धक निकाय
रा० कृ०	राधाकृष्णन्
जा०	जातक
डी०पी०पी०एन०	डिक्शनरी ऑफ पालि प्रोपर नेम्स
English.	Dictionary of pal proper names.

जा० नि० का०

नि० जा०

इति० वृ०

विशु०

सं०

अनु०

जातक निदान कथा

निमि जातक

इतिवृत्तक

विशुद्धिमङ्गल

सम्पादक

अनुवाद

प्रथम अध्याय

भूमिका

यह बात स्वतः सिद्ध है कि मनुष्य जिस काल और जिस वातावरण में जन्म लेता है उससे वह प्रभावित होता है, अपने से पूर्व के इतिहास को पढ़ता है एवं उससे भी प्रभावित होता है। साहित्य में भगवान् बुद्ध का समय संहिताओं एवं उपनिषदों से परवर्ती ई० पू० छठी शताब्दी माना जाता है जबकि संहिताओं का समय कम से कम १५ वीं शताब्दी ई० पू० एवं उपनिषदों का समय ७ वीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है। बुद्ध ने अपने समय से पूर्व का इतिहास पढ़ा होगा यह स्वाभाविक है।

वान्तरिक संघर्ष एवं आत्मा के अनुभवों को जानने के लिए भगवान् बुद्ध ने उपनिषदों से बहुत सहायता ली। बुद्ध स्वयं स्वीकार करते हैं कि जिस धर्म की उन्होंने खोज की है वह एक प्राचीन धार्मिक मार्ग है और नित्य धर्म है। बुद्ध ने नये धर्म की स्थापना नहीं की अपितु पुराने ही वादों की खोज की है। समय की अनुसूतता के अनुसार भगवान् का धर्मिप्राय एक ऐसे धर्म की स्थापना करना था जिस पर चल कर मनुष्य को शान्ति मिलती। इसलिए उन्होंने वेदों एवं उपनिषदों का अध्ययन लेकर उनमें से कुछ बातें काट - छांट कर एक नये धर्म की स्थापना की जो आज हमारे सामने बौद्ध धर्म के नाम से जाना जाता है।

डा० एस० राधाकृष्णन् के अनुसार - "हम साइंस के साथ कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन बौद्ध मत उपनिषदों के विचार की नये दृष्टिकोण से पुनरावृत्ति मात्र है।"^१

श्री रीज़ डेविड्स का कहना है - "गौतम

का जन्म व पालन पोषण, जीवनयापन एवं मृत्यु हिन्दू के रूप में हुई। गौतम के व्याख्यात्मशास्त्र एवं अन्योन्य सिद्धान्तों में ऐसा कुछ नहीं है जो किसी न किसी धर्म के ग्रन्थों में न मिल सके और उसके अधिकांश नैतिक सिद्धान्त प्राचीन जथा प्राचीन हिन्दू पुस्तकों से समानता रखते हैं।^१ ”

क्तः “बौद्ध सृष्टि प्रक्रिया” के क्रम में हमें बुद्ध पूर्व साहित्य का भी परामर्श करना होगा। क्तः बुद्ध की सृष्टि प्रक्रिया के विवेचन से पूर्व हम संहिताओं एवं उपनिषदों की बाजार ग्रन्थ मान कर उनमें वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया का कुछ विवेचन करेंगे। उसके उपरान्त तुलना करेंगे कि कहां तक बुद्ध सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में पार्वर्ती संहिताओं एवं उपनिषदों से सहमत रहे हैं। वैसे बुद्ध ने सृष्टि-विषयक बातों को व्यव्याकृत की कोटि में रखा है जबकि वेदों एवं उपनिषदों में सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन बहुत हले ढंग से किया गया है। फिर भी कुछ स्थलों पर सृष्टि विषयक प्रश्नों का समाधान बुद्ध ने किया है। उन सबको छूट्टा करने के उपरान्त ही बौद्धों की सृष्टि-प्रक्रिया की वैदिक साहित्य की सृष्टि-प्रक्रिया से तुलना की जा सकती है एवं निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुद्ध कहां तक पार्वर्ती साहित्य से प्रभावित रहे हैं।

प्रत्येक वेद के चार स्तर हैं जिनमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् नामों से जाना जाता है। देखना होगा कि इन चारों प्रकार के ग्रन्थों में सृष्टि प्रक्रिया का किस प्रकार वर्णन किया गया है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद में दो प्रकार के विचार मिलते हैं- पुराकथाशास्त्रीय तथा दार्शनिक। पुराकथा-

शास्त्रीय दृष्टि से दो विचार धारायें सामने आती हैं। एक के अनुसार यह संसार यान्त्रिक प्रक्रिया का परिणाम है जिसके पीछे वहाँ जैसा लुहार की माँति किसी कुशल कारीगर का हाथ है। दूसरी विचारधारा इस विश्व को प्राकृतिक उत्पत्ति का परिणाम मानती है। दार्शनिक दृष्टि से यह विश्व एक ही सर्वोच्च शक्ति का विस्तार रूप है। ऐसा विचार भी मिलता है कि यह विश्व एक अनिश्चित एवं अव्यवस्थित स्थिति से उभरा है।

कव्येव का 'नासदीय सूक्त' सृष्टि प्रक्रिया की सब से अधिक स्पष्ट मीमांसा करता है। इस सूक्त की बारम्बार की तीन क्वावों में सृष्टिपूर्व अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया गया है- 'उस समय न सत् था, न असत् था, न अन्तरिक्ष था न ही उसके ऊपर का आकाश। क्या ठंडे हुए था, वहाँ किसी शरणा में ? क्या गहन गम्भीर जल ही था ? तब मृत्यु नहीं थी, अमृत भी नहीं था, कौन सा गहन गम्भीर जल था, रात और दिन का कोई चिह्न भी नहीं था। वह स्वधा के द्वारा वायु के बिना ही स्वास ले रहा था, उसने अतिरिक्त तब कुर भी न था। पहले बन्धकार से ढका बन्धकार ही था, यह सब चिह्न विहीन जल ही था। जो व्यापक तत्त्व तुच्छ से ढका हुआ था वह एक तप की महिमा से उत्पन्न हुआ। यह विविध रूपों वाली सृष्टि जहाँ से आयी है (इसको वह) या तो धारणा किये था या अगर नहीं (तो कौन धारणा किये था) जो इसका ईश्वर है, वह सर्वोच्च स्वर्ग में है, वही निश्चित रूप से इसे जानता है, यदि वह नहीं जानता तो (कौन जानता है)।''

यहाँ इस बात का संकेत मिलता है कि यह सृष्टि ईश्वर द्वारा होती है, वही सफा रक्षक है, वही संसार प्रक्रिया का संभालता है।

“ सतपथब्राह्मण ” में भी “ नासदीय सूक्त ” के मंत्रों की व्याख्या की गयी है। वहाँ कहा गया है कि “ वारम्भ में न तो यह अस्त था और न ही सत् था , वारम्भ में यह था भी और नहीं भी था । तब यह केवल मन ही था । इसीलिए कण्वि ने कहा है, ‘ तब न अस्त था और न सत् था , क्योंकि मन न तो सत् है और न अस्त ’ । “ सतपथ ब्राह्मण ” की इस व्याख्या में भी वादि तत्त्व की अनिवर्जनीयता का आभास मिलता है जो सृष्टि के वादि में मनोरूप था ।

सृष्टि का यही वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी किया गया है-

“ परमेश्वर पुरुष अपार शक्ति वाला है । वह पृथ्वी को चारों ओर से व्याप्त किये है । ऐसा वह पुरुष तीन चौथाई ऊपर स्वर्ग लोक में बसा गया है, एक चौथाई यही पर रह गया है । उस (तीन चतुर्थांश) से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से (जीवात्मा के रूप में) पुरुष (उत्पन्न हुआ) , उत्पन्न होते ही उसने (अपने को) देव, मनुष्य (वादि रूप में विराट् से) अलग कर लिया । इसी बाद (जीवात्मा के लिए) शरीर (का निर्माण) किया । इसके बाद उसने आकाश में रहने वाले, जंगलों में रहने वाले तथा गाँवों में रहने वाले जो पशु थे उनकी उत्पन्न किया । तब देवताओं ने पुरुष को विभक्त किया । ब्राह्मण उसका मुख था, दोनों मुँहाये चात्रिय दनीं जो उसके जंघे थे वे वैश्य हुए , दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ । (उसकी) नाभि से अन्तरिक्ष (उत्पन्न हुआ) था, सिर से आकाश उत्पन्न हुआ , दोनों पैरों से पृथ्वी, कान से दिशायेँ । इसी प्रकार सभी लोकों की सृष्टि (देवताओं) ने की ।

१- अ० ब्रा० १०. ५. ३

२- अ० ३१. ४, ५, ६, १०, ११, १२, १३

वैदिक दृष्टि विधा में हिरण्यगर्भ का विशेष महत्त्व है। वेद के मन्त्रों में कहा गया है कि हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ, वह जन्म से ही उत्पन्न प्राणियों का कोला स्वामी था। उसने पृथ्वी, आकाश तथा इन सबको धारण किया।^१

ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ जिसे प्रजापति भी कहा जाता है उनके विषय में कहा गया है कि वे परमात्मा दृष्टि के पहले ही विद्यमान था। जब उन्हें दृष्टि करने की कामना हुई और उन्होंने आपः या सतित में कामना रूपी बीज का वपन किया तब उससे उत्पन्न पृथिवी आदि महामूर्तों के वे अधिष्ठाता बने। इस प्रकार वह ध्रुलोक, अन्तरिक्षा लोक और पृथिवी लोक को धारण करता है।^२

हिरण्यगर्भ का वर्णन बाद ही संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। "शतपथ ब्राह्मण" में हिरण्याण्ड की उत्पत्ति का स्पष्ट एवं क्रमिक वर्णन इस प्रकार है- "आरम्भ में यह सब जल ही था। उन्होंने कामना की- "हम कैसे प्रजा उत्पन्न करें, ऐसा कह कर उन्होंने श्रम किया, उन्होंने तप तथा, तपती हुई उस आपः में हिरण्यमय अण्ड उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने के बाद वह संवत्सर बना। वह यह हिरण्यमय अण्ड एक संवत्सर तक तैरा रहा। उससे एक वर्ष में पुरुष उत्पन्न हुआ, वही प्रजापति है।"^३

१- ऋ० १०७१२१

२- ऋ० १०७१२१

३- शत० ब्रा० ११. १. १६, १, २

आपो हु वा इदमाग्रे सतितमिवास।

ता कामयन्त कथं नु प्रजाये महीतिता आग्राम्यन्त।

तास्तपोऽतप्यन्त तासु तप्यमानासु हिरण्यमयमाण्डं सम्भूव ---

संवत्सर आस। तदिदं हिरण्यमयमाण्डं यावत्सं वत्सरस्य। वेता ता

वत्पर्यपन्वत् ॥

मनुस्मृति के अनुसार- “ सृष्टि की इच्छा वाले स्वयं ने ध्यानकर अपने शरीर के पहले जलों की सृष्टि की फिर उसमें बीज डाला । वह सूर्य के समान प्रकाश वाला अण्डमय हो गया, उसमें सम्पूर्ण लोक के फलामह ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए । उस अण्डे में एक संवत्सर तक निवास कर भगवान् ने अपने ध्यान से स्वयं ही उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये । उन दोनों टुकड़ों से उसने बुलोक एवं पृथिवी लोक का निर्माण किया और मध्य में व्योम, आठों दिशाएँ तथा जलों का शाश्वत निवास स्थान बनाया ।

उपनिषदों में सृष्टि प्रक्रिया इस प्रकार वर्णित है- “ इन्द्रोऽय उपनिषद् के अनुसार आरम्भ में अस्त था । अस्त होते हुए भी वस्तुतः वह अमावात्मक नहीं था । वास्तव में सतही था । उसमें सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । परिणामतः उसने एक अण्डे की उत्पत्ति हुई । वह अण्डा एक वर्ष तक शयन करता रहा, उसके उपरान्त वह विच्छिन्न हुआ और उसने समूची सृष्टि का विकास हुआ । अण्डे का ऊपरी हिस्सा बुलोक और निचला हिस्सा पृथिवी लोक बन गया । उसमें जो जरायु थे वे फलित बन गये, जो उरु था वह कुहरा सहित बाढ़ल बन गया जो धमनियाँ थीं वे नदियाँ बन गयीं, जो जल था वह समुद्र बन गया । इसी से कालान्तर में सब प्राणी उत्पन्न हुए ।

इस प्रकार वेदों एवं उपनिषदों में एक ही परमात्मा का वर्णन मुख्य है जिससे यह सारी सृष्टि प्रादुर्भूत हुई ।

ऐतरेय उपनिषद् में सृष्टि रचना के सम्बन्ध में निम्न वर्णन मिलता है-

“ प्रारम्भ में एक ही परमात्मा था । इस

१- मनु० १. ८

२- छा० उ० ३.१६.१, २

परमात्मा ने सोचा मैं लोको का निर्माण करूँ । उसने इन लोकों की रचना की । उसमें प्रथम जम्म लोक था जो बुलोक के ऊपर है । दूसरा मरीचि लोक था जो शुद्ध प्रकाशमय है, तीसरा मृत्यु लोक और चौथा आपः लोक^१ । उसने फिर सोचा और कहा अब ये चार लोक तो बन गये । अब इन पर शासन करने वाले लोकपालों का मैं निर्माण करूँगा । उसने उसी समय जल से एक मूर्ति का निर्माण किया वह विराट् बड़े अण्ड के समान हुआ । उसको तपाया, उसके तप जाने से उसमें मुख हुआ । मुख से वह बोलने लगा । वायु के स्थान में अग्नि देवलोकपाल हुआ । इसी तरह इसमें नासिका हुई, नासिका से प्राण और प्राण के स्थान में वायु लोकपाल हुआ । उसमें कान बनीं, कानों से वह देखने लगा और यहाँ से सूर्य का निर्माण हुआ । कान का निर्माण हुआ । कान से वह सुनने लगा और दिशाओं का निर्माण हुआ । त्वचा का निर्माण हुआ, त्वचा से लोम हुए और वहाँ से वनस्पतियाँ बनीं । हृदय बना, हृदय से मन और वहाँ से चन्द्रमा हुआ । नाभि का निर्माण हुआ, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु । शिश्न उत्पन्न हुआ, शिश्न से रेत हुआ और रेत से जल उत्पन्न हुआ ।^२

इस तरह एक अण्डे से ये आठ लोकपाल बने । वह अण्डा ब्रह्माण्ड जैसा विशाल था और उसमें ये आठ देवता रहने लगे । यह विराट् पुरुष है ।

१- ऐ० उ० ३:४

- स स्नास्त्रिलोकानसृजत् ।

जम्मो मरीचि मरमापोद्गमः परेण दिवं ,

वायुः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षा मरीचयः ।

पृथिवी मरी, या अयस्तात् ता आपः ।

२- ऐ० उ० ३:४

ये देवता उत्पन्न हो जाने पर एक बड़े समुद्र में गिर गये । विश्वरूपी समुद्र में पड़े इनको मूख व प्यास लगी । तब इन्होंने परमात्मा से कहा कि हमें रहने के लिए स्थान दो जिसमें रहकर हम अन्न लायेंगे । परमेश्वर ने उनके रहने के लिए गौ, बैल, घोड़ा आदि के शरीर उनके सामने लाये । उनको देखकर देवों ने कहा ये अच्छे नहीं हैं । इसके पश्चात् उनको परमात्मा ने मनुष्य का शरीर दिखाया । तब उन्होंने कहा यह तो बड़ा ही अच्छा है, परमेश्वर ने कहा यदि यह अच्छा है तो तुम इसमें योग्य स्थान में जाकर रहो । वे देवता सूक्ष्म रूप धारण करके उसमें रहने लगे । अग्नि वाणी बनकर मुख में रहने लगा और इसी तरह वायु, सूर्य, दिशा, वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु आदि : ये देवता प्राण, चक्षु, श्रवण, श्रोत्र, मन, अपान और रेत का रूप लेकर नासिका, नेत्र, कान, त्वचा, हृदय नामि शिश्न के स्थान में क्रमशः रहने लगे । इनको बाद में मुख और प्यास लगी । परमात्मा ने सोचा, ये लोक और लोकपाल तो बने हैं, इनके लिए अब हम अन्न बनायेंगे । वह अन्न उत्पन्न होने पर पीछे हटने लगा । उसको वह वाणी से लेने लगा, किन्तु न ले सका । इसी प्रकार आँख, नाक कान आदि से वह अन्न को न फँद सका । अन्त में वह उसे अपान से ले सका । यह वास्तविक अन्नायु है, वायु ही अन्न को लेने वाला है । वायु अन्न पर अवलम्बित है ।

आत्मा ने सोचा यह सम्पूर्ण शरीर मेरे बिना नहीं रह सकता अतः मुझे शरीर में प्रवेश करना ही चाहिए । उसने मस्तिष्क के विषति द्वार से अन्दर प्रवेश किया और जीवात्मा बन कर सब को आधार देकर

१- ऐ० १६२४३

२- ऐ० ३४४

३- ऐ० १६२४३

- येन वा रूपं पश्यति----- वास्वाहु च
विपानति ।

वहाँ रहने लगा । इस विघटि नामक द्वार में ही आनन्द है । उसके तीन रहने के स्थान हैं और तीन आराम के स्थान ।

आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका विचार ऐतरेय उपनिषद् के तृतीय अध्याय में किया गया है । वहाँ कहा गया है - “ जिससे सब सुनता है, जिसकी शक्ति से मनुष्य रूप को देखता है, जिससे गन्धों को सूंघता है, जिससे वाणी फ़ाट होती है, यह जिस की शक्ति से होता है वह आत्मा है^१ । शरीर में आत्मा के न रहने पर सब इन्द्रियाँ अपना काम करना छोड़ देती हैं। इसलिए कहा गया है कि जिससे इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं वह आत्मा है और वही हमारा उपास्य है । अन्तःकरण में जो आत्म-शक्तियाँ हैं उनके नाम हैं- मनन, ज्ञान-विज्ञान , कृप्य का प्रेम, मेधा , स्मृति, धैर्य , बुद्धि, कौशल्य, काम इत्यादि शक्ति । मनुष्य के व्यवहार में जो अनुभव होते हैं वे सब प्रज्ञान के ही रूप हैं और वह प्रज्ञान आत्मा का रूप है^२ ।

इन सब वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मा से आकाश अर्थात् आकाश तत्त्व उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु , वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी , पृथिवी से जीवाधियाँ , जीवाधियों से अन्न, अन्न से प्राणी का शरीर मनुष्य का देह बना । इस शरीर की उत्पत्ति पुष्टि और उन्नाप्ति अन्न से ही होती है। इसी को अन्नमय कोश कहते हैं^३ । अन्न से सब प्रकारों उत्पन्न होती है । जो पृथ्वी पर प्राणी हैं वे अन्न से उत्पन्न होते हैं । अन्न से वीर्य बनता है। वीर्य स्त्री के गर्भ में जाकर प्राणी के रूप में उत्पन्न होता है और वह अन्न से जीवित रहता है। इस रीति से जीवन उत्पत्ति, र्वं भरण अन्न है । अन्न रूप है जिससे उत्पत्ति होती है, जिसमें जीवन

१- ऐ० ३०१

२- ऐ० ३१२

३- तैत्ति० १.२ ब्रा० ०

होता है और मरने पर जिनमें जाकर जाकर मिलता होता है वह ब्रह्म है । ये तीनों चारों ब्रह्म में बंटा होती हैं, इसलिए ब्रह्म ब्रह्म है।

इस ब्रह्ममय शरीर में अर्थात् ब्रह्ममय कोश में दूसरा प्राणमय शरीर है, प्राण-शरीर है । स्थूल शरीर इस प्राण शरीर से मरा है । इसलिए ब्रह्ममय शरीर प्राण शरीर से मरा होने के कारण ब्रह्म शरीर के समान ही प्राण शरीर का आकार है । इस प्राण के प्राण अणु, व्यान, उदान और समान ये विमान शरीर के विभिन्न अंगों में रहने के कारण होते हैं, प्राण अणुस्थल में अणु गुदा स्थान में व्यान सब शरीर में समता लाने के लिए रहता है । यह सब प्राण के ही रूप हैं ।

इस प्राणमय शरीर के अन्दर तीसरा मनोमय शरीर है। इसको मानस शरीर^२ कहते हैं। वैसा प्राण शरीर का आकार होता है, वैसा मानस शरीर का भी ।

बाणी प्राण और मन इनकी गति वहाँ घुमिष्ठ होती है उसी अंगे आनन्दपूर्ण सुख ब्रह्म है इसको जो जानता है, वह निर्णय होता है ।

इस मन के भीतर विज्ञानमय शरीर है । मानस शरीर विज्ञानमय शरीर से मरा हुआ है। शरीर के समान यह विज्ञानमय शरीर है।

विज्ञान यह ब्रह्म का रूप है। सब देव विज्ञान सम्पन्न होते हैं । विज्ञान के ही द्वारा मनुष्य के सब पाप दूर होते हैं तथा काम-नायें पूर्ण होती हैं।

१- तैत्ति० २.२.४

२- ,, २.२.४

३- ,, तत्त्वैव स्व शरीर आत्मा ।

यः----- आत्मा विज्ञानमयः ।

इस विज्ञानमय शरीर में बानन्दमय आत्मा रहता है। वह विज्ञान शरीर से मरा हुआ है, इसलिए विज्ञान शरीर के समान बाकारवाला वह बानन्दमय आत्मा बानन्द शरीर है। इसके गुण, धर्म, प्रेम, प्रमोद और बानन्द है^१।

जो सूर्य मण्डल में आत्मा है, वही इस शरीर में आत्मा होकर रहता है। वही शरीर में स्थित आत्मा है। जन्ममय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, बानन्दमय इन पाँचों कोशों में यही आत्मा कार्य करता है। मृत्यु के पश्चात् यही इन कोशों के परे जाता है^२।

उस आत्मा ने उस ब्रह्म से इच्छा की कि मैं इस समय सब हूँ, अब मैं ही बनेक बनूँ। उसने तप किया और उसने अपने से ही यह सब कुछ उत्पन्न किया। इस सब संसार को उसने उत्पन्न किया और इसके पश्चात् वह उसी में प्रविष्ट हुआ। और वही यहाँ और वहाँ रहने वाला वस्तु मात्र बन गया। वर्णनीय, अवर्णनीय, साधार, निराधार, ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्षा, अप्रत्यक्षा, सत्, असत्, सब कुछ वह बना। जो है वह वही सबसत् है, क्योंकि जो है वह है। इस कारण उस सबको सत्य कहते हैं^३।

मुण्डकोपनिषद् में प्रजापति को ब्रह्मा के नाम से पुकारा गया है- ब्रह्मा देवानां प्रथमः संवत्स्रं विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।^४

१- तात्० २.८

२- तैत्ति० २.८

३- ,, २.७

४- मुण्ड० १.१

सम्पूर्ण विश्व का कर्ता और सब सुखों का उत्सव संरक्षण करने वाला ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उपनिषदों और ब्राह्मणों में स्व ब्रह्मा या प्रातपति से ही इस विश्व की उत्पत्ति को स्वीकार किया है । मुण्ड-ओपनिषद् में सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में निम्न वर्णन मिलता है-

“ जैसे मकड़ी अपने शरीर से तन्तुओं को बाहर निकालती है और वह फिर उसमें जमे रहती है, उसी प्रकार यह विश्व रुपी धाना निकल आता है यही सृष्टि है। और फिर मकड़ी उस धाने को समेटती है और अपने में उसे फिर फाँसी है, यही सृष्टि का संसार है । ”

मुण्डओपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति में नाम, रूप और रस को विशेष महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति करने के लिए ब्रह्मा को तप करना पड़ता है। कहा जाता है कि जो जो पद धाने काटा है उसे सर्व विधाभय परमात्मा का तान ही तप है । ज्ञान स्वतन्त्रः ब्रह्म में रहता है, इसलिए ब्रह्म का कर्म ज्ञान है । ज्ञान से प्रत्येक फल की प्राप्ति किया जाता है। इसी ज्ञान वह उत्कृष्ट वह सत्ता निर्णय करे जो अभिधान किया जाता है वह ज्ञान के कारण है। ज्ञान से ही सब मोक्षार्थें होती हैं । इस सृष्टि का जो चारों दिशाओं में फैलाव है, वह इस नाम का ही है । इस ब्रह्म से ही सृष्टि के विविध फलों के रूप को है और प्रत्येक फल के नाम भी जो हैं ।

सुद्ध ने निम्नलिखित में उपर्युक्त सभी उद्धरणों में

१- मुण्ड० १.७

नोट- ब्रह्मा और ब्रह्म दोनों एक ही ब्रह्म से जो हैं ।

२- मुण्ड० १.६

३- जी० जी० पाण्डे- द्यौरिजिन्स बाफ सुद्धिम पृ० ४३५

कहा है कि यह पद, नामरूपात्मक है। उन्होंने ने नाम और रूप का क्या संश्लेषण और उपनिषदों से ही कृषित किया, ऐसा प्रकट होता है। वृष्टि प्राज्ञिया में बुद्ध ने ईश्वर या परमात्मा को कोई स्थान नहीं दिया है, और कहा है कि यह वृष्टि पूर्वी, अपः रोप और पाद से प्रादुर्भूत हुई है, इसी से उत्पन्न होती है और फिर इसी में विलीन हो जाती है।

उपनिषदों के अनुसार वृष्टि में अमृतब्रह्म सिद्ध करने के लिए कर्मों में अकृत रखा है क्योंकि नाना प्रकार के प्रसक्त कर्म करने मनुष्य अमृतब्रह्म के लक्षों में रहने वाला अकृत प्राप्त कर सकता है। पिता कच्छा कर्म फिर किसी को इस प्राप्त नहीं हो सकता है इसलिए इस लोक भी कर्म लोक कहते हैं। इन कर्मों से पुण्य लोक प्राप्त होता है और तब जनों का परित्याग होता है।

बुद्ध के उपदेशों में भी कर्म की महत्ता वृष्टि-गोचर होती है कर्म का सिद्धान्त उन्होंने प्रायः उपनिषदों से ही ग्रहण किया।

ब्रह्मा पुल्लिंग रूप है और ब्रह्म नपुंसकलिंग। वाक्यान्तर पदों के निर्विशेष रूप को ब्रह्म कहते हैं। वही जब विशेषताओं से युक्त होकर वृष्टिकर्ता बन जाता है तो ब्रह्मा कहा जाता है।

वृष्टि सम्पन्धी वर्ग के प्रम में वेदों एवं उपनिषदों में स्वर्ग और नरक की कल्पना भी गयी है। स्वर्ग में शान्ति तथा उत्तम कर्म करने वाले जाते हैं, वृष्टि, पापी, अपमृदुरे कर्म करने वाले वहाँ नहीं रह सकते। स्वर्ग में दुर्जनों से भय नहीं होता, स्वर्ग लोक में अपमृदु नहीं होती।

१- मुण्ड० २.१

२- तैत्ति० १.६.१

वहाँ काल एवं वृद्धावस्था नहीं आती । वहाँ कोष्ठ खान पान मिलता है । स्वर्ग में जो लोग आनन्द से रहते हैं^१ । स्वर्ग लोक का सबसे सुन्दर वर्णन कण्वेद में किया गया है। वहाँ यम, मरुण तथा पिशाचों के साथ निवास करते हैं । वहाँ दिन और रात , जल सभी आनन्ददायक होते हैं । वहाँ सोन, सुरा, मधु, दुग्ध तथा कीमती मौखिक वस्तुओं का ही आनन्द नहीं होता अपितु वहाँ प्रेम करने के लिए स्त्रियों की बहुलता होती है । अथर्ववेद में कहा गया है कि स्वर्ग में कोफ वज्रो मौन मिलते हैं । यम के दूत मनुष्य लोक में घूम कर पितृलोक में जाने वाले को ढूँढा करते हैं । पितृलोक प्रकाशमान तथा देवीप्यमान है। यहाँ यह पितृलोक के साथ आनन्द में मग्न प्रसन्न होते हैं ।

बुद्ध के उपदेशों को पढ़ने के उपरान्त ज्ञात होता है कि उनकी स्वर्ग नाम कल्पना का आधार वेद ही है। उनकी स्वर्ग कल्पना वेदों से मिल आती है। स्वर्ग का ऐसा वर्णन वेदों में मिलता है वैसा ही चौदों में भी पाया जाता है। स्वर्ग लोक का विस्तृत वर्णन हम पंचम अध्याय के अन्तर्गत करेंगे । यहाँ केवल छाना कह देना पर्याप्त होगा कि पुण्य कर्मों के फल पर ही चौदों में स्वर्ग लोक की प्राप्ति बताया गया है। किन्तु किन्हीं स्थलों पर अन्तर भी दीखता है। उदाहरण के लिए चौदों में रिता करना महापाप है । इस कारण रिता करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है जबकि वेदों में देखा जाता है कि कोफ व्यसनों पर फलुओं की बलि दी जाती थी वेदों के अनुसार यम मनुष्यों को स्वर्ग की ओर ले जाते हैं जबकि बुद्ध के उपदेशों में यम देवता गार्हपतीय लोगों को वातनाथे पहुँचाते हैं । यहाँ स्वर्ग प्रांग में यम का वर्णन नहीं मिलता । छान्दी भिन्नताओं के बावजूद भी स्पष्ट है कि चौदों में स्वर्ग की कल्पना वेदों की देन है ।

१- क० उ० १:२ 'स्वर्ग लोके न भयं विमनास्ति, नतत्रत्य'--- स्वर्ग लोके ।

२- क० १०:१४:६

३- अथर्व० ४:२४, २

अथर्ववेद एवं कठोपनिषद् में नरक की कल्पना इस प्रकार की गयी है। वहाँ कहा गया है कि नरक लोक में एक बंधीगृह है जहाँ डायमें रस्सी हैं और पादूगर बसे हैं। अथर्ववेद में इस लोक को बनेक बार 'वधप्रतनस' ^१, 'वृष्णातमस' और 'वन्-तमस' ^२ कहा गया है। नरक की यातनाओं का भी अथर्ववेद में एक बार और 'शतफत्राशण' ^३ में विस्तार के साथ वर्णन जाया है। 'शतफत्राशण' में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु के उप-रान्त पुनर्जन्म लेना पड़ता है और उसे तराजू में तोला जाता है। सत्कर्मों या दुष्कर्मों के सबसे बड़े पुरस्कार या दण्ड का भागी होता है। कवेद में कहीं कहीं नरक के वर्णन मिलते हैं। उपाहरण के लिए कहा गया है कि इस गम्भीर पद की पापी, क्रु विरोधी एवं अस्त्यात्मा व्यक्तियों ने बनाया है। इन्द्र और तीन से प्रार्थना की गयी है कि वे पापाचारों को गर्त में बिना सहारे के घने तम में धकेल दें जिससे उनमें से एक भी न बचने पाये और कवि प्रार्थना करता है कि उलूक की तरह अपने को ठिपाकर डायमें छपर छपर घूना करती हैं, भगवान् करे कि वे काल गर्त में जा गिरे। राजास उस गूँठे में लुढ़क जायें जो तीनों पृथिवियों के बीच बना है। किन्तु इस प्रकार के निर्दोष कम हैं और इनसे केवल इतना सिद्ध होता है नरक पृथिवी के नीचे है और यहाँ बन्धनार रखा रहता है।

१- अतौ यो अपराद् गृहस्तत्र तन्त्तरातयः ।

तत्र रेडिन्युक्त सर्वाश्च यातु पान्यः ।। अथर्व० २.१४.३

२- अथर्व० ८. २. २४

३- ,, ५. ३०. ११

४- ,, ५. १६. १

५- शतपथब्राह्मण ११. ६. १

६- ,, ११. २. ७. ३३

७- ऋ० ४. ५. ५

८- ऋ० ७. १०४. १७

बुद्ध के उपदेशों में भी इसी प्रकार के नरकों की कल्पना की गयी है। त्रिपिटक में बहुत ही मयानक प्रकार के नरकों का वर्णन है। अपुण्य व्यक्तियों को इन नरकों का सेवन करना पड़ता है। यहाँ भी सब से नीचे की मृत्ति को निरय लोक कहा गया है। सनातन विरोधियों को नरक लोक का सेवन करना पड़ता है और उनको कठिन यातनायें दी जाती हैं। बौद्धों में भी इस प्रकार के नरकों की कल्पना की गयी है। वेदों में जल से कहीं नरक के प्रकारों का वर्णन नहीं मिलता है। किन्तु फिर भी कहना यही होगा कि नरक लोक की कल्पना का आधार भी बौद्धों में संक्षिप्त वेद एवं आरण्यक ही रहे। बुद्ध ने उन कल्पनाओं में थोड़ी काट छांट अवश्य की है।

वैदिक युग में देवताओं की कल्पना अपनी जलग विशेषता रखती है। वहाँ अनुपा संक्षिप्त वाले अर्थात् देवता हैं। इन देवताओं में कुछ बु स्थानीय देवता हैं, कुछ पृथिवी स्थानीय और कुछ अन्तरिक्ष स्थानीय। पृथ्वीस्थानीय देवों में वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, अश्विन् उषा और रात्रि हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय देवों में इन्द्र अर्षापात्, रुद्र, मरुत, वायु, पर्जन्य तथा आपः हैं। पृथिवी स्थानीय देवों में पृथिवी, अग्नि और सोम इत्यादि हैं।

ऋग्वेद में कुछ देवताओं की स्तुति करते समय उन्हें जगत् का कर्ता बताया गया है। कर्तृत्व का वादित देवों में सविता, त्वष्टा, धाता, विश्वकर्मा तथा प्रजापति के नाम प्रसृत हैं। सविता के विषय में कहा गया है कि वे जगत् के निर्माण के लिए मुँह फैलाते हैं।

सृष्टि सम्बन्धी देवों में सविता के बाद त्वष्टा का नाम आता है। उनको सबका उत्पादक तथा पालन पोषण करने वाला बताया

गया है^१। एक सूक्त के अनुसार त्वष्टा ने ही सारे संसार को रूप से सम्पन्न किया है^२। त्वष्टा एक कुशल शिल्पी के रूप में वर्णित है। उन्होंने इन्द्र के लिए वज्र बनाया है^३।

विश्वकर्मा का स्थान भी सृष्टिकर्तृत्व में महत्त्वपूर्ण है। यह केला ही धावा पृथिवी का निर्माता है^४। विश्वकर्मा को पिता जनता एवं विधाता भी कहा गया है^५। इसके बाद हिरण्यगर्भ को भूलोक, पृथिवीलोक एवं स्वर्ग को स्थिर करने वाला कहा गया है। ये प्राणियों के स्वामी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक युग में अत्यन्त देवताओं की अपार शक्ति थी। वे सृष्टि संचालक के रूप में भी प्रदर्शित किये गये हैं। बुद्ध ने भी अपने दर्शन में उपर्युक्त देवताओं का वर्णन किया है जो कि वैदिक धर्म की ही देन है। किन्तु बुद्ध ने इन देवताओं को परिमित सीमा के अन्तर्गत ही रखा। उनका मुख्य उद्देश्य ही जनता में फैली हुई बहुदेववादी धारणा को समाप्त करना था। उन्होंने अपने कथनों में, ब्रह्मा, महाब्रह्मा, विश्वकर्मा, बृहस्पति, इन्द्र इत्यादि देवताओं को पवित्र तो माना एवं मनुष्यों से ऊँचा स्थान तो दिया किन्तु उनको अपनी सीमा में रहने दिया। उन्होंने इनका स्थान देव लोक ही रखा और कहा कि पुण्य कर्मवादी भी इस लोक में जन्म लेंगे। इन देवताओं से ऊपर बुद्ध की शक्ति अपार है जो बुद्ध ने शक्ति है वह किसी में नहीं है। ये

१- ऋ० ३; ५५. २७

२- ऋ० १०; ११०. ६

३- ,, ५. ३१. ४

४- ,, १०. ८९. ३

५- वही

देवता सदा मनुष्यों के कल्याण में लगे रहते हैं। सृष्टि-प्रक्रिया एवं सृष्टि संचालन में इन देवताओं का कोई योगदान नहीं है^१। विश्वकर्मा, याम, सुयाम, इन्द्र इत्यादि देवताओं का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना काफी होगा कि बुद्ध के मस्तिस्क में इन देवताओं की कल्पना का आधार वेद ही थे। कालान्तर में बुद्ध ने इनकी शक्तियों में परिवर्तन करके इन्हें नये ढंग से प्रस्तुत किया है। इतना अवश्य कहना होगा कि इन देवताओं में मनुष्य की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है एवं ये पवित्र होते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही देवगति मिलती है।

इन देवताओं के अतिरिक्त वेदों एवं उपनिषदों में यक्षों, गन्धर्वों तथा अप्सराओं का भी वर्णन मिलता है। गन्धर्वों का विस्तृत वर्णन ऐश्वर्याध्याय में मिलता है। इनका नाम देवों, पितरों एवं असुरों के साथ आता है। इनका एक अलग लोक है जिसे कोई भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है^२। रोहिणी एवं चन्द्र मण्डल के तारों का सम्बन्ध गन्धर्वों के साथ बताया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि वे जल में अप्सराओं के साथ रहते हैं।

बुद्ध ने भी अपने कथनों में अनेक स्थलों पर गन्धर्वों का वर्णन किया है और कहा है कि उनका निवास स्थान महासमुद्र है^३।

अथर्ववेद और यजुर्वेद में जलों के साथ अप्सराओं

१- द्रष्टव्य- डा० जी०सी० पाण्डेय- बोरीजिन्स बाफ बुद्धजिम पृ० ५१५

२- क्र० १०, १२३, ७ - देखें अथर्व- १२, १२३

द्रष्टव्य- डा० पूर्यमान्त - वैदिक धर्म एवं दर्शन पृ० २२२

३- अ० नि० पृ० २५६, भाग ३ पृ० ३०८

का सम्बन्ध आम तौर से प्रकट किया गया है और कहा गया है कि वे जलों में रहती हैं। उनके बार बार मनुष्यों से दूर जाकर नदी और जलों के किनारे रहने को कहा गया है। इससे उनकी पातक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। अथर्ववेद के अनुसार वे पेड़ों पर निवास करती हैं, वेदोत्तर कालीन साहित्य में वे गन्धर्वों के साथ वृक्षाओं पर रहती हैं। यहाँ उनके निवास स्थलों में पर्वतों की गणना की गयी है^२।

त्रिपिटक में इस प्रकार के विध्वंसक कार्य करने वालों को यक्षा एवं यक्षाणी कह कर पुकारा है। वहाँ कहा गया है कि यक्षा एवं यक्षाणियों के निवास स्थान वृक्षा हैं। यक्षा मनुष्यों को नुकसान पहुँचाते हैं, एवं यक्षाणियाँ मनुष्यों के सून की प्यारी होती हैं।

वेदों में संवत्सर की कल्पना की गयी है। संवत्सर का वैश्व प्रचलित अर्थ 'वर्षा' है। संवत्सर की कल्पना का आधार बड़ा-चित् यह है कि विश्व में जिस किसी की भी सृष्टि होती है वह वर्षा वर्षा काल के अन्तर्गत ही होती है। सृष्टि के अतिरिक्त पालन और प्रलय का सम्बन्ध भी संवत्सर से बताया जाता है। वह सभी जीवों का पातक एवं पोषक^४ है। उनका नाना मृत्यु भी है, क्योंकि वह सभी भूतों के जीवन को क्षीण करता है और उनका अन्त करता है, तथा अहोरात्र के द्वारा सभी जीव अन्त में संवत्सर में ही विराम करते हैं^५। अतः उसको विवर्त भी कहा जाता है, जिसके भीतर चारों जीव विवर्तन

१- डा० सूर्यकान्त- वैदिक धर्म एवं दर्शन पृ० २२५

२- ,, ,, पृ० २२६

३- को० ब्रा० १६.६ , शत० ब्रा० ४.१४ अथर्ववेद-वैदिक दर्शन पृ० १६८ परभूक्त

४- श० ब्रा० ८.६.३.१२ , ६.१.३.८.२

५- एष वै मृत्यु संवत्सरः एष हि मृत्युर्नामहोरात्राम्यामायुः क्षिणोति ।

(चक्कर) करते रहते हैं^१।

ब्राह्मण ग्रन्थों में संवत्सर का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। संवत्सर को कसु, धेनुवी का वृक्षम कहा गया है^२।

त्रिपिटक में संवत्सर एवं विवर्त की कल्पना विद्यमान है जो कि हर हास्त में ब्राह्मण ग्रन्थों की देन प्रतीत होती है। बुद्ध ने अपने अनेक कथनों में संवर्त एवं विवर्त का वर्णन किया है। संवत्सर के स्थान पर उन्होंने इसे संवर्त नाम दिया है। संवर्त से तात्पर्य विनाश प्रक्रिया से है और विवर्त से तात्पर्य सृष्टि प्रक्रिया से है। बुद्ध के अनुसार जब संसार में महापाप होने लगते हैं तो इस सृष्टि का संवर्त होता है। उस समय सूर्य तथा चन्द्र का दर्शन नहीं होता, बन्धकार ही बन्धकार होता है। फिर नये सिरे से इस संसार का विवर्त होता है, और नये प्राणियों का जन्म होता है। इस प्रकार संवर्त एवं विवर्त की भी कल्पना बौद्धों में वेदों की ही देन प्रतीत होती है।

उपर्युक्त कथनों के आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अपने नये धर्म के संचालन में बहुत कुछ सामग्री संविदाओं, ब्राह्मणों, धारण्यकों एवं उपनिषदों से ग्रहण की है। उनमें से कुछ बातों को ही छोड़कर जो उन्हें उपयुक्त नहीं लगी उन्होंने एक नये धर्म की स्थापना की। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म बहुत कुछ हिन्दू धर्म से मिलता जुलता है। बुद्ध के महा-परिनिर्वाण के बाद तो इस धर्म के दो सम्प्रदाय हो गये जिसमें महायान सम्प्रदाय के लोग तो मूर्ति पूजा तक करने लगे।

वैदिक ग्रन्थों के लिखे जाने के बाद एवं बौद्ध

१- शत० ब्रा० ८:४:१:२५

२- शत० ब्रा० १०:४:३:१. डा० फतह सिंह- वैदिक दर्शन, पृ० १६८ पर उद्धृत

धर्म के आविर्भाव से पहले बीच का एक ऐसा समय था जिसमें जनता में अनेक प्रकार की भिक्षु या धारणाएँ प्रचलित थीं। वे धारणाएँ आत्मा तथा संसार सम्बन्धी थीं। बुद्ध ने उस समय प्रचलित भिक्षु या धारणाओं का भी पर्यालोचन किया था। इन सब धारणाओं से प्रभावित एवं व्याकुल होकर बुद्ध ने एक नये धर्म की स्थापना की थी। अतः अगले अध्याय में यह देसना आवश्यक है कि वे कौन से जाचार्य थे जो इस प्रकार की भिक्षु या धारणाओं का प्रसार कर रहे थे।

द्वितीय अध्याय

बुद्ध पूर्ण बुद्ध विचारक

“ न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य पाप का अच्छा बुरा कर्म है । न माता है, न पिता है न देवता है । आदमी चार महामूर्तों से बना है । जब वह मरता है तो शरीर का पृथिवी-तत्त्व पृथिवी में , जल तत्त्व जल में, अग्नि तत्त्व अग्नि में, वायु तत्त्व वायु में मिल जाता है । इन्द्रिया आकाश में चली जाती हैं । मृत पुरुष को श्मशान की ओर ले जाते हैं । जलाने के उपरान्त केवल उसकी हड्डियाँ बचती हैं । आहुतियाँ राख हो जाती हैं । दान करो, यह मूर्खों का उपदेश है । जो कोई आस्तिकवाद की बात करते हैं उनका कहना तुच्छ है । मूर्ख हो या विद्वान् सबकी मरने के बाद एक दशा होती है । ”

प्रबुध कच्चायन

यह भी बुद्ध काल के प्रसिद्ध उपदेशक थे । वे अकृतावादी थे । उनके मतानुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन ये सात तत्त्व अकृत अर्थात् अनिर्मित हैं । वे अवध्य, कूटस्थ और अचल हैं-
----- यहाँ न कोई हन्ता है, न घातयिता , न सुनने वाला, न सुनानेवाला ।
यदि तीक्ष्ण शस्त्र से भी काट दे तो भी कोई किसी को नहीं मारता । ”

१- नत्थि , महाराज, दिन्नि, नत्थि यिट्ठं

नत्थि हुत्तं नत्थि सुकत्तदुक्कयनं -----

----- न होन्ति परं मरणाति ॥

- दी० नि० २. ४. २१ , भाग १ पृ० ४८

२- दी० नि० २. ४. २४ भाग १ पृ० ४६

३- वही

कहा और बैठा भी नहीं करता कि वह नहीं है। परन्तु है और नहीं भी है।
 एक प्रकार के दूरे स्त्री-वादी थे। ये तः हों आचार्य बुद्ध से वाचु में बड़े थे।
 तः उन सब स्त्री हैं कि इती स्त्रीवादी में बड़े उत्तर भारत में लोगों के विचारों
 में एक गार्हस्थिक क्रांति विधान थी।

इन आचार्यों की आत्मा विषयक कल्पनाएँ
 भी थीं जिसका वर्णन उन्होंने जो कुछ स्त्रियों पर किया था। ये सब कल्पनाएँ
 जो वर्णों में बताती थीं। उनमें से एक का उल्लेख था कि “आत्मा और
 भाव आकाश है। वह (आत्मा) वज्र, धूलस्थ एवं नगर द्वार पर लगे स्वप्न
 के समान स्थिर है।”

एक पाद में पूरण कल्प, मन्त्रालि गौरात
 और प्रमुक्कचयन और निगण्ठ नाट पुत्र के अतः ज्ञातिष्ट होते थे।

निगण्ठ नाटपुत्र

पैन ग्रन्थों से मालूम होता है कि कुछ सम्प्रदायिक
 चैत्यों के चौबीसों चौबीसों महावीर स्वामी (जिनमें निगण्ठ नाटपुत्र करते थे)
 और मन्त्रालि गौरात के तः वर्णों तक एक साथ रहकर सपरिवारों की थी। कदाचित्
 उन लोगों का यह प्रयत्न था कि वापीवर्णों और निर्ग्रन्थों का एक सम्प्रदाय बनाया
 जाय। पार्श्वरुनि के अनुसार ही एक ब्रह्म या तीन पत्र ब्रह्म पाते रहते थे। परन्तु
 महावीर स्वामी ने मन्त्रालि गौरात, का विगमर ब्रह्म स्वीकार किया और तब
 से निर्ग्रन्थ ही बने। परन्तु निर्ग्रन्थों और वापीवर्णों के दर्शन में मिलाप नहीं हो
 सका।

१- चौ० नि० २, ४, ३३ भाग १ पृ० ५३

२- “सस्ती कला व लोको व वज्रको बूटटो

सस्तिट्टाविट्टो ॥

नशावीर या निगण्टनाट पुस्तक चातुर्वर्गिक-
वादी है। सौंदर्य ग्रन्थों के अनुसार ये चार प्रकार के रस माने थे।

- १- शीघ्र शिवा के मय से जल के प्यङ्गुलार का रस
- २- सभी पापों का वारण
- ३- दो वारणों के लिए अभीमतीत होने तथा
- ४- उनके द्वारा सदा भूत पाप इन जाने को विशेष
नरत्त्व देते हैं।

नशावीर का बोझ है कि चार रसों तथा
सपत्नियों के पूर्णत्व में दिये गये पापों का निरास करके वैश्व (मोक्ष) प्राप्त
दिया जाय।

उद्धृत वाक्यों के कर्तों की कुछ ने कही
निन्द्य की। इन सौंदर्य ग्रन्थों का वर्णन शीघ्र निरास के सामग्र्यफल सुक्त में
लिखा है। ये सौंदर्य ग्रन्थों कुछ के पाप में पड़े थे।

इन वाक्यों के अन्तर्गत और दूसरे, भगवत्
प्राप्त है जो उद्धृतवादी कहते हैं। उनका कहना था- " यह वाक्मा पड़,
चार नशावीरों की कही हुई, ना पाप के उत्पन्न हुई है। वह शरीर भेद के
परन्तु शिवा ही पापों है, उक्त निरास होता है तथा वह मृत्यु के परन्तु
नहीं रहती। इस मा का प्रतिपादन करने वाक्यों में शक्ति केराम्भलि प्रसुत है।
कुछ ने भी इस वाक्मा के विचार में उद्धृत दिये हैं और कुछ ने उद्धृत इस वाक्मा
के भेद करते हैं। इन की कर्तों के बीच में कुछ वाक्यों से भी वे जो कहते हैं कि
वाक्मा कुछ कर्तों में शक्ति तथा कुछ कर्तों में शक्ति है। संक्षेप वेत्तुपुस्तक का

१- ब्रह्मसूत्र- नशावीर और कुछ की सत्तामयिकता पृ० १७

२- टी० नि० १, ३, ८४ भाग १ पृ० ३० ग्रन्थांतर्गत

बाद धुर रही प्रकार का था ।

मगधान् बुद्ध का मत उपर्युक्त मतों से भिन्न है, और अपनी उत्पत्ति की सिद्धि के लिए उपर्युक्त मतों में किसी एक को भी हाँ या नहीं उत्तर की अपेक्षा नहीं रखता ।

वस्तुतः एही स्ताब्दी का बुद्ध भारत के इतिहास में विचित्रित्यामय बुद्ध था । सर्वत्र ही दार्शनिकों में एक प्रकार की ब्रह्मन्ति प्रकट होती थी । उसी एही व्यवस्था से बुद्ध ने सृष्टि के रहस्यों और तत्त्वों को खोल फैली हुई थी । दीर्घ निकाय के " ब्रह्मालु सुत्त " में इन सब धारणाओं का समीक्षित विवेचन किया गया है। मतः हम यहां उन ६२ भिन्न धारणाओं का वर्णन करेंगे जिनके मगधान् बुद्ध परिकल्पित हैं, जिनके प्रमाण एवं प्रकार को वे जानते हैं, और जिनके अधिक भी जानते हैं किन्तु जानकर भी " मैं नहीं जानता हूँ " ऐसा अभिमान नहीं करते हैं ।

" ब्रह्मालु सुत्त " में कहा गया है कि उपर्युक्त ६२ भिन्न धारणाओं में १८ का सम्बन्ध जीवन एवं मृत्यु के बाध का चारम से था । शेष ४४ उन्नीस विषयों के उत्पत्ति का अन्तिम परिणाम की कथा किया करती थीं ।

बायट्ट प्रकार की भिन्न धारणाएँ

मगधान् बुद्ध के समय में कुछ धारणाएँ पहले से कही जा रही थीं जिनकी संख्या ऊपर बतायी जा चुकी है। उनमें से कुछ थीं पूर्वान्त

कस्मिन् (पुनरावृत्ति) और दूर की अपरान्त कस्मिन् (अपरान्त कस्मिन्) ।

पूर्वान्ति कस्मिन् धारणाओं पांच मनों में विभा-
जित की गयी है-

- १- शाश्वतवाद
- २- नित्यता - अनित्यतावाद
- ३- शान्त - अनन्तवाद
- ४- समरा विपरीतवाद
- ५- कारणवाद

इनमें से शाश्वतवाद, नित्यता- अनित्यतावाद, शान्त अनन्तवाद और समराविपरीतवाद इन चार मनों में से प्रत्येक का प्रमाण उत्तर चार धारणाओं से (चतुर्वि वत्तुवि) और अनन्तिन कारणवाद का प्रमाण समीक्ष्य समुत्पाद का प्रमाण दो धारणाओं से (द्विवि व त्पुवि) किया जाता था । इस प्रकार इन पूर्वान्ति कस्मिन् धारणाओं की संख्या कुल मिलाकर १८ होती थी । ऐसी वृत्तारण धारणाओं से पूर्वान्ति कस्मिन् मत भिन्न भिन्न रूपों से निर्दिष्ट होते थे । शाश्वतवाद का हट्ट खिडान्त यह था कि वात्मा और लोक नित्य, अपरि-
णामी वृत्तप और कसत हैं । प्राणी अस्तो, फिरो उत्पन्न होते और मरते हैं ,
किन्तु वास्तव्य नित्य है। यह मत चार धारणाओं पर अवलम्बित था -

१- चित्ता के सात्त्विक लाभ करने पर पुन पुन-
न्तर की सृति होती है।

२- संवर्त विवर्त कस्य से केर वस संवर्त विवर्त
तत्त्व सवाधि में कसो पुन पुनान्तर की सृति होती है।

१- दी० नि० १. ३. ३१ भाग १ पृ० १३

२- दी० नि० १. ३. ३२ पृ० १४.

३- इस संवत् विवर्त से लेकर बीस संवत् विवर्त या पालीस संवत् विवर्त वांछि तक अपने जन्म मरण की स्मृति होती है।

४- तर्क के आधार पर नित्यता- अनित्यतादी (स्थव्य वस्तुतिका स्थव्य वस्तुतिका) ज्ञानेन और ब्राह्मण वे वे जो आत्मा और लोक को कृतः नित्य और अकृतः अनित्य मानते वे और ऐसा बार वस्तुओं के कारण -

(१) चित्त के समाधि प्राप्त करने पर अनुव्यक्त पूर्ण जन्म की स्मरण करता है उसने पहले की नहीं। वह ऐसा कहता है- जो ब्रह्मा, महाब्रह्मा है, जिसके द्वारा हम निर्मित किये गये हैं वे नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिणामधर्मी हैं और ब्रह्मा के द्वारा हम निर्मित किये गये हैं, हम अनित्य, ध्रुव, कालाश्रय, परिणामी और नरणाशील हैं।

(२) समाधि में पूर्ण जन्मों की स्मृति के फल-स्वरूप ग्रीष्माप्रवृत्ति^२ (सिद्धापदसिका) देवों को च्युत होता देख और भी ऐसे नहीं है उनको ज्युत देव इस प्रकार की अनुभूति होती है कि आत्मा और लोक कृतः अनित्य हैं।

(३) इसी प्रकार मनःप्रवृत्ति^३ देवों को च्युत होता देखकर और उनके विपरीत लोकों को ज्युत देखकर उपर्युक्त प्रकार की अनुभूति होती है।

१- की० नि० १, ३, ४२ भाग १ पृ० १७

२- "वे देवता हैं जो ग्रीष्मा में ही अपना समय बिताते हैं।"

- की० नि० १, ३, ४५ पृ० १८

३- "वे देवता जो ग्रीष्मादि से अपने मन को दूषित करते हैं।"

- की० नि० १, ३, ४७ पृ० १९

(४) तर्क के द्वारा इस प्रकार का निश्चय कि ये ब्रह्म, क्षेत्र, नास्तिता, पिष्टा तथा शरीर अनित्य और ब्रह्म है और यह जो नन, वित्त क्षमा विज्ञान है, वह नित्य स्व भूत है ।

तान्त अनन्तवाद में विश्वास करने वाले मानते थे कि लोक तान्त और परिच्छिन्न भी है और अनन्त अं अपरिच्छिन्न भी । तान्त और कान्त, परिच्छिन्न स्व अपरिच्छिन्न तथा न तान्त न अनन्त होता है चार धारणाओं के आधार पर करते थे -

(१) समाप्ति वित्त से इस प्रकार मान होने से कि " लोक " तान्त है, परिच्छिन्न है ^१ ।

(२) होता भी मान होने से कि " लोक " वष ^२ अनन्त है, अपरिच्छिन्न है ।

(३) होता भी मान होने से कि लोक ऊपर ^३ से नीचे की ओर तान्त तथा दिशाओं की ओर अनन्त है ।

(४) तर्क से निश्चय द्वारा कि लोक न तान्त ^४ है न अनन्त ।

हमारा विरोधवादी ने ये जो किसी प्रश्न का उत्तर देने पाने पर कोई निश्चित उत्तर नहीं देते थे । उनका हमराविरोध

१- ब्रह्मण्य - श्रीवनिताय १. ३. ५३

२- " १. ३. ५५

३- " १. ३. ५६

४- " १. ३. ५० भाग १ पृ० २१, २२

नाम हरे कारण पदा यद्यपि कमराचिरोपि नाम की मासियां होती हैं वे फल होने से कारण राम में नहीं जातीं । ऐसी मासियों से समान कमराचिरोपियों से सिद्धान्तों में कोई स्थिरता नहीं मिलेगी । " यह नी में नहीं कहा " , " बर नी की नहीं कहा " बन्धना भी नहीं होता नहीं है यह भी नहीं , " " होता है, यह भी नहीं कहा , ऐसी ऊनी वरिधर दुष्टि रहती थी । इसे लिए उनके पास ध्यान भी चार थे-

(१) सम्बन्ध ज्ञान नहीं होने से अस्त्य-मायणा के मय से वह न यह कह सकता है कि " यह कहा है " और न यह कि " यह कहा है । "

(२) अस्त्य मायणा करने के लिये सम्मान करने के मय से वह प्रयोगों के पूर्ण जाने पर कुछ निश्चित बात ही नहीं कहता ।

(३) सम्बन्ध ज्ञान होने से अधिक धुलत सास्त्रार्थ करने बातों से हर कर कुछ निश्चित उत्तर नहीं देती ।

(४) वह स्वयं जानता ही नहीं कि परलोक्ष दीपपातिव (ब्रह्मनिष) के वीर सुख तथा दुष्टत कर्मों के विपाक हैं ज्ञान नहीं, का: वह कोई निश्चित उत्तर ही नहीं देता । संयमोत्कृष्टिदुस्त किने अनिरिक्ततामाय का वर्णन दीप विपाक के " समेकाफल सुता " में जाता है

१- दी० नि० १, ३, ६२ भाग १ पृ० २४

२- ,, १, ३, ६२

३- ,, १, ३, ६३

४- ,, १, ३, ६४

५- ,, १, ३, ६५ पृ० २५

ही दृष्टि को मानने वाले थे ।

कारणवादी तथा कर्तृत्व-उत्पन्नवादी थे वे जो मानते थे कि लोक और आत्मा न उत्पन्न हैं और न अनागत , न स्वयं-भूत हैं और न परम, बल्कि बिना ही किसी कारण के उत्पन्न हैं, कर्तृत्व-उत्पन्न हैं और ऐसा ही कारणों से -

(१) अद्वैतत्व नाम के गैर सत्य सत्ता के उत्पन्न होने से इस लोक में दीष्ट पुरुषों के रूप में जन्म लेते हैं जो अद्वैत चित्त होने पर वे सत्ता के उत्पन्न होने को संस्था करते हैं, उल्टे पक्षों को नहीं । वे ऐसा करते हैं- आत्मा और लोक कारण उत्पन्न हुए हैं। वह कैसे ? हम पक्षों नहीं थे , हम नहीं हीपर भी उत्पन्न हो गये ।

(२) तर्क के आधार पर

इस प्रकार १८ पूर्वान्ति-स्थित धारणायें दीप-विधाय के ' ब्रह्मात्म सुत्ता ' में मिलती हैं। वय ४४ धारणाओं को भी कि उपरान्त कस्मिन् की उनको बताते हैं -

उपरान्त कस्मिन् धारणायें मुख्यतया पाँच भागों या भागों में बंटी हुई हैं-

(१) करने के बाद आत्मा का संसृतिव प्रसि-पादन करने वाला वाद (उद्यमाधातनिक-संछीवाद) ।

(२) अद्वैतत्व प्रसिपादन करने वाला वाद (उद्यमाधातनिक अद्वैतवाद) ।

३- नैव संशित्व नैव अशित्ववाद (नैव सञ्जी-
नासञ्जीवाद) ।

४- उच्छेदवाद ।

५- वृष्टधर्मनिर्वाणवाद (बिट्ठधम्मनिष्वाण-
वाद) ।

इनमें से प्रथम मत्त १६ धारणाओं से, द्वितीय
मत्त वाट धारणाओं से तथा तृतीय मत्त सात धारणाओं से चौथे पाँचवा मत्त पाँच
धारणाओं से प्रतिपादित किया जाता था । यहाँ यह वेदना है कि वह कौन सी
१६ धारणाएँ थीं जिनका अनुसरण करु कुरु दमपण और प्राशण । मरने के बाद
आत्मा संती रहता है । ऐसा कहते थे । " मरने के बाद आत्मा रूपवान् " रोग-
रहित और सदा प्रीति से साध रहता है। रूपवान् और रूपवान् आत्मा होता
है, न रूपवान् , न रूपवान् आत्मा है, आत्मा सान्ता होता है, आत्मा व
कान्ता होता है, आत्मा सान्ता और कान्ता होता है, आत्मा न सान्ता और
न कान्ता होता है, आत्मा स्कान्त संती होता है, आत्मा नानात्मसंती होता
है, आत्मा परिनित संता वाला होता है। आत्मा अपरिमित संता वाला होता
है, आत्मा विरुद्ध भुज होता है, आत्मा विरुद्ध दुःखी होता है, आत्मा सुखी
और दुःखी होता है, आत्मा दुःख और दुःख से रहित होता है, आत्मा वरोग
और संती होता है । इन्हीं सोलह धारणाओं से मरने के बाद आत्मा संती रहता
है । १६ मत्त की सृष्टि की जाती थी ।

१- बी० नि० १, ३, ७३, ७५-७६, १, ३, ८३, १, ३, ७८, १, ३, ८४

पृ० २८, २९, ३०

२- बी० नि० १, ३, ७६ पृ० २८

३- वही - रूपी वत्ता होती वरोगी पर मरणा सञ्जी ।

वत्तावा व कान्तावा व वत्ता होती ।।

४- बी० नि० १, ३, ७६ पृ० २८ प्रभाव सुत्त

“मरने के बाद आत्मा जगती रहता है” इस का
 ही बाठ धारणाएँ थीं- (१) मरने के बाद आत्मा जगती, रूपवान्, न
 रूपवान्, सान्त्, जगन्त, सान्त् और जगन्त, न सान्त् और न जगन्त ।

उपर्युक्त दोनों मतों की बाठ- बाठ धारणाओं
 में से प्रत्येक की प्रभावः विकल्प से बाध बाध रहकर “मरने के बाद आत्मा नैव
 जगती, नैव-जगती रहता है” ऐसा मानने वाले भी अपने मत की पुष्टि के
 लिए बाठ धारणाओं की उद्भावना कर लेते थे, जैसे- “मरने के बाद आत्मा
 रूपवान्, शरीर और नैव जगती नैवाजगती रहता है - रूपवान् --- इत्यादि ।”

आत्मा के उच्छेद को मानने वाले भी थे । तपित-
 वैश्वामयी धर्म का ही माननेवाले थे । उन उच्छेदवाधियों की बात धारणाएँ
 की किसी कारण से आत्मा के उच्छेद का उच्छेद कैसे थे-

(१) कर्मा में यह आत्मा चार महाभूतों से
 बना है और माता- पिता के संयोग से उत्पन्न होता है, इसलिए शरीर के
 नष्ट होते ही यह आत्मा भी विरहित अनुचिन्त हो जाता है।

(२) अन्य यह आत्मा है जो विषय रुपी ज्ञाना-
 न्तर लोक में रहने वाला तथा मोक्षन बाध रहने वाला है। यह तत् आत्मा शरीर

१- “क्री लो, मो, धर्म यत्ता रूपी चातुमहामूर्तिको
 मातपेत्तिरु सम्मको दायस्स भेदा उय्यिज्जति
 विनस्सति न लीति परं भण्णा -----

- बी० नि० १, ३, ८५ पृ० ३०

के नष्ट होने पर उच्छिन्न और विनष्ट हो जाता है^१।

(३) अन्य ही वह दिव्य, हृषी, मनोमय, वांग प्रत्यंग से युक्त और परीमन्द्रिय वात्मा है। वह वात्मा शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है^२।

(४) अन्य ही वह वात्मा है जो सभी तरह के रूप और रंग से भिन्न, प्रतिहिता की रंजाओं के वस्तु हो जाने से नानात्म रंजाओं को नष्ट न करने से अनन्त वाता^३ की तरह अनन्त वाक्वात शरीर बनाता है। वह एत वात्मा भी शरीर के साथ ही उच्छिन्न हो जाता है^३।

(५) अन्य है वह वात्मा जो विज्ञात शरीर बनाता है और शरीर के साथ ही वह भी उच्छिन्न हो जाता है^४।

(६) अन्य है वह वात्मा जो अविज्ञात शरीर बनाता है और वह एत वात्मा भी शरीर के साथ ही उच्छिन्न होता है^५।

(७) अन्य है वह वात्मा जो सान्त और प्रणीत नैव-जंता- न-जंता है और वह भी शरीर के साथ ही उच्छेद को प्राप्त होता है^६।

ब्रह्म-धर्म- निर्वाणवादी मानते थे कि प्राणी का ही जंतार में केली केली निर्वाण हो जाता है और ऐसा पांच कारणों से-

१- दी० नि० १. ३. ८६ भाग १

२- ,, १. ३. ८७

३- ,, १. ३. ८८

४- ,, १. ३. ८९

५- ,, १. ३. ९०

६- ,, १. ३. ९१

(१) चूंकि यह आत्मा पांच काम गुणों में फँसकर सांसारिक नीम नोगता है, इसलिए इसी संसार में यह निर्वाण प्राप्त कर लेता है^१ ।

(२) यह आत्मा चारों से मुक्त रहकर प्रथम ज्ञान को प्राप्त कर विश्रुता है, इसलिए इसी जन्म में यह निर्वाण पा लेता है^२ ।

(३) फिर और विचारों के शान्त हो जाने से द्वितीय ज्ञान को प्राप्त कर यहां निर्वाण प्राप्त कर लेता है^३ ।

(४) उसका बुद्ध, स्मृतिमान् और बुद्धि दिशारी होते हुए तीसरे ज्ञान को प्राप्त हो वहीं निर्वाण को प्राप्त कर लेता है^४ ।

(५) यह आत्मा बुद्ध और बुद्ध के नष्ट होने से, लौकिक और धर्मिक के वस्तु हो जाने से चौथे ज्ञान को प्राप्त कर वहीं निर्वाण प्राप्त कर लेता है^५ ।

इस प्रकार ये दस निष्ठा-पारणायें भी भी भगवान् बुद्ध के समय में प्रकटि कीं और जिनमें फँसी हुई जनता बुद्ध और भेद-भावों के वन्त को समझ नहीं सकते थे ।

इन सब विचारों की श्रान्ति में भगवान् बुद्ध का वायिनाम हुआ । हमें जाने देना है कि भगवान् बुद्ध की इन विचारों से प्रति क्या मानना रहो होगी ।

१- की० नि० १. ३. ६४ पृ० ३२

२- ,, १. ३. ६५

३- ,, १. ३. ६६ "यसं वत्ता वित्तविवारानं ।

४- ,, १. ३. ६७

५- ,, १. ३. ६८ पृ० ३३

मगधात् बुद्ध ने उपसृष्टा शब्दों में से किसी एक को भी "हां" या "न" के उत्तर में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस प्रकार के प्रश्नों को छोटा ब्रह्मामृत कह कर जवाबकारी नज़ाया।

बुद्ध ने व्याख्या करते हुए बताया कि काल के बतान से उत्पन्ना "पूर्वान्ता" तथा "अपरान्ता" दृष्टियों के कारण ही जन्म की किसी दृष्टि का उत्पन्न होती है। अपनी समाधि और स्वाग्रहा के विकास से "वीणादिवर" कई करणों के अपने पूर्व जन्मों की जानने में समर्थ हो जाता है। उसी से उसे यह किसी दृष्टि उत्पन्न हो जाती है कि उसी व्यक्तित्व की सत्ता एक नित्य सत्य है, जो आत्मा नाम से समिष्टि की जाती है। इसी प्रकार अन्य लोग उनकी धनुकों तथा अपनी कार्यनि, कल्पना की उलान के आधार पर कुछ लोग धर्मात्मिक भविष्य की सत्य मानकर भविष्य में घुटस्य तथा नित्य रहने वाले थे।

बुद्ध ने "हो" "है" आत्मा के विचारों पर टिप्पणी करना अपना राज्य भट्ट करना बताया। उन सब वाद्यों से उन्होंने अपने मन्तव्य को जता करीब और अभिप्राय ही करा। बुद्ध के मन्तव्य के पीछे यदि कोई भी एक दृष्टि करी पा सकती है तो वह यही है कि "है" हेतु के उत्पन्न होने वाले जो जन्म हैं उनका हेतु समाप्त करते हैं। उनका जो निरोध है उसको भी वे कहते हैं। यही महावचनावाद है।" इसी सिद्धान्त को सामने रखकर बुद्ध ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद का नाम दिया --- कोई भी क्रिया बिना कारण के सम्पन्न नहीं होती वह बुद्ध का उद्देश्य है। कोई धर्म न साधतवादी है और न वास्तववादी या उद्देश्यवादी। उसे "सन्ततिवाद" कहा जा सकता है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद का पर्यायवाची है। यही वास्तव में बुद्ध का आत्मवाद भी है।

किन्तु उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अपने समय के प्राक्तन धार्मिक मतों से बुद्ध ने कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की होगी। फिर समय पूर्वकाण्ड और वितण्डावाय की प्रतिक्रिया में उन्होंने अपनी भाषा वार्त्तम की थी, उसके विरोध का बीज उनके बहुत पहले कथित कथाचित् उपनिषद् साहित्य के रचना-काल में ही पड़ चुका था। उनके समय तक बुद्धवाद, ब्राह्मणवाद, वैश्वनाथवाद सन्ध्या की जैसी विविध धार्मिक धाराओं में प्रवृत्त थी। उस समय न केवल औपनिषदिक विचारधारा ही प्रचलित हो रही थी बल्कि वैसा प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों के देखने से पता चलता है, उस समय न्याय, सांख्य एवं योग दर्शनों की बातें भी वातावरण में प्रवेश पा चुकी थी। ऐसी कला में उनका अपनी विविध बातों से बहुत दूर प्रभावित हो जाना वांछनीय नहीं हो सकता था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि गौतम बुद्ध अपनी कई मान्यताओं के लिए सांख्य दर्शन से अपनी ठहराये जा सकते हैं। इस मत के प्रमाण में प्रायः यह भी कहा जाता है कि अपने सत्त्व चिन्तन के प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने "वात्सर कालान्" एवं "उत्तरानुसुत्त" से शिक्षा पायी थी जो संभवतः दोनों ही सांख्य एवं योग दर्शन से प्रभावित थे। लक्ष्मणोपा ने अपनी रचना "बुद्ध-चरित" के आधारों पर यह बात विषय पर प्रकाश डाला है और उसे "वराह" दर्शन का नाम तक दे डाला है। परन्तु यदि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन एवं सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो बात पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाती। फलतः यह अनुमान करना कथाचित् अधिक उनीचीन होगा कि गौतम बुद्ध की विचारधारा में उन दिनों सांख्य दर्शन के सिद्धान्त केवल उपक्रम रूप में ही समाविष्ट हो पाये थे और पीछे स्वतन्त्र रूप से पुष्प-पुष्प विकसित होने के कारण उनमें कुछ अन्तर नज़र आने लगा था। पुरा में ही पीछे धर्म के जानी सब धर्म फीके पड़ गये।

धानेक जालक में बिता है कि "सूरीयव रोगे पर पिब प्रगार पुत्रु दुष्य हो पारे हैं उसी प्रगार दुष्य के उत्पन्न होने पर भार्गवार्थी (तैर्किर्ग) का लाभ उत्कार नष्ट हो गया ।

दुष्य ने दुष्य विविष्ट कर्तों की जो जगह पूर्ण चारों ओर बालाहरण में फैली दुष्य में कड़ी बालोपना की । एका दिनेन एका दिनेन बालोपना में करेंगे ।

०००

९- प्रष्टव्य- डा० नरसिंह उपाध्याय- पौष्ट दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन , पृ० २८०

डा० स्वर्ण- हिस्त्री बाफ बुकिस्ट पाट पृ० ८०

तृतीय अध्याय

पूर्वतर प्रारणायों पर भगवान् बुद्ध की बालीचना

प्रकार धारणाओं पर मगवान् बुद्ध की वासीकना

वाचक में यह बताया जा चुका है कि बुद्ध के विचार बहुत कुछ उपनिषदों के विचारों पर अवलम्बित हैं। वस्तुतः बौद्ध धर्म औपनिषद विचारों का रूपान्तर प्रतीत होता है। यह स्पष्ट है कि बुद्ध के कथनों में विविध रूप के उत्प्रेषण न करने पर भी उपनिषदों का उन पर प्रभाव प्रतीत होता है। उर्मि विज्ञान में वाक्ता, पुनर्जन्म और मोक्ष काया निर्वाण की सम्भावना तथा संसार और प्राप्ति की धर्मिकता उपनिषदों तथा बुद्ध के उपासकों में प्रायः एक समान है। इस संसार का न तो कोई धारि है और न धर्म, यह परिणामरूप है, इत्यादि विचारों में जो मगवान् बुद्ध उपनिषदों के सम्मेलन हैं, विन्तु वे निरपेक्ष परमात्मा की व्याख्या के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं करते। उही प्रकार वाक्ता एवं मोक्ष की व्याख्या के विषय में भी उनका कोई स्पष्ट मत नहीं मिलता। वृत्तु के पक्षान् बुद्ध की व्याख्या होती है, क्या उनका धर्मिकत्व रहता है, या नहीं क्या दोनों व्याख्याएँ हैं या दोनों में से एक भी नहीं है, वाक्ता एवं संसार के स्वरूप के विषय में 'कि क्या वे नित्य हैं ? धर्मिक हैं ? दोनों हैं कल्प दोनों में से एक भी नहीं ? क्या ये स्वयम्भू हैं क्या दूसरे के द्वारा बनाये गये हैं, दोनों प्रकार के हैं कल्प दोनों में से किसी भी प्रकार के नहीं, इन सब प्रश्नों के विषय में बुद्ध कुछ नहीं बताते।'

मगवान् बुद्ध ने इस संसार की वाण-मगुर व्याख्या है और कहा है कि यह जगत्परीक्षा के समान है जो दूर से देखने में सुन्दर लगता

है परन्तु पाद जाने पर निश्चार जान पड़ता है। किन्तु उपनिषदों में कहीं भी यह नहीं कहा गया कि यह संसार परिहर्तनीय है एवं ब्रह्मपाद के समान है, एवं बटनात्मक प्रवर्तनमान है, कत्ता एवं जायाओं का पुंय साधन है। उपनिषदों में कहीं नहीं कहा गया कि संसार के दूर भागो। वहाँ यह भी नहीं कहा गया है कि धीमेन एक नवानक दुःस्वप्न है और पश्य निर्जन एवं शून्य है। इसी विपरीत उनकी दृष्टि में इस सार्नवस्यपूर्ण जगत् में धीमेन की मंडलन और स्फुरण के वसिहित सात और ख के साथ न्यूर जीवन के चिह्न वर्तमान हैं। यह जगत् ईश्वर का अपना ही अभिव्यक्त रूप है। ये सब दृश्यामन वास्तवियाँ उसने अपनी प्रकृतता के निर्मित की हैं।

फिर भी उपनिषदों में उल्लिखित हुए मुख्य विषयों की मज्जातु हू ने पूरी वास्तवता की है। वे विषय हैं- आत्मवाद, ईश्वरवाद और सात्वतवाद।

उपनिषदों में जो स्थान ब्रह्म को दिया गया है तुम के साहित्य में वही स्थान धर्म को दिया गया है। धर्म सब वस्तुओं को ब्रह्म में रखता है। "काञ्छसुता" में संसार का विकास और उपर्य प्राप्तियों के वर्तनिर्या धर्म के तत्त्व द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। ब्रह्म वह ही धर्म पत्र बन जाता है। ब्रह्म के मार्ग को ही धर्म का मार्ग कहते हैं। वस्तुवर्ग मार्ग को ही बिना किसी भेद भाव के ब्रह्मदान या धर्मदान कहा गया है। कहाया गया है कि ब्रह्मदान कत्ता धर्म ही संपादन का तरीका है जो ब्रह्म कत्ता धर्म के साथ तद्रूप ही

१- द्रष्टव्य- डा० एस्० रामानुज्यान् - भारतीय दर्शन पृ० १२०

२- बी० नि० ३, द० द्रष्टव्य- जी०जी० पाण्डे - आरिषिन्त बाफ़ हृदिष्म

पृ० ५१२

३- डा० नि० १४१, ५, ५, पेर नाभा पृ० ६६ - भरतसिंह ठपाच्याय, जौध दर्शन तथा अन-
भारतीय दर्शन - पृ० २ परबु

जाता है। त्रिपिटकों में अनेक ऐसे वाक्य आते हैं जहाँ धर्म को पूज्य भाव से देखने का आदेश है। धर्म की श्रेणी उच्च है और सत्ता यथार्थ, और संसार के फलार्थ धर्म है, क्योंकि वे एक ही परमार्थ तत्त्व के व्यक्त रूप हैं।

उपनिषदों में धर्म का वर्णन सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं को सामने रखकर उसको सुलझाने की निर्यात से किया गया है। वेदों में धर्म से तात्पर्य ईश्वर के कहे अनुसार आचरण करना था। किन्तु बुद्ध का धर्म स्वयं अनुभवगम्य था।

बुद्ध का कथन था कि मोक्ष की कामना करने वालों के लिए यह उचित नहीं कि वह आत्मा, परमात्मा आदि के भण्डों में पड़ें। उन्होंने देवताओं की दिव्यता का खुलकर विरोध किया और वेदों की प्रामाणिकता पर भी कुठाराघात किया। बुद्ध की इच्छा इस संसार को नये ढंग से व्याख्या करने की नहीं थी। प्रत्युत मनुष्य में कर्तव्य एवं कर्म की भावना उत्पन्न करने की ओर थी। उनके अनुसार सत्य के अज्ञान के कारण ही संसार में सब प्रकार के दुःखों की सृष्टि हुई है।

यहाँ अपने विषय को आगे बढ़ाने के लिए भगवान् बुद्ध ने जिन जिन विषयों का विशेष रूप से खण्डन किया उसका विवरण देने के क्रम में हम सर्वप्रथम अनात्मवाद को लेते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वेदों ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के युग में शरीर के भीतर और शरीर से भिन्न एक नित्य चेतन शक्ति मानी जाती थी जिसे आत्मा कहा गया है और जिस आत्मा के जाने

से शरीर में उष्णता एवं ज्ञानपूर्वक चेष्टा होती है । जब वह शरीर को छोड़ देती है तो शरीर शीतल और चेष्टारहित हो जाता है ।

कतिपय अन्य लोगों के मत में आत्मा कोई वस्तु नहीं है। शरीर के भीतर भिन्न भिन्न परिणामों में मिश्रित रसों के कारण उष्णता और चेष्टा पैदा हो जाती है । रसों के परिमाण में कमी आने से वह चली जाती है । इस प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न कोई वस्तु नहीं है ।

बुद्ध ने न तो आत्मा को नित्य कूटस्थ माना और न 'शरीर के साथ ही आत्मा का विनाश हो जाना ।' इन दोनों बातों को छोड़कर बीच का रास्ता उन्होंने अपनाया । उन्होंने कहा कि 'आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है अपितु किसी खास कारणों से स्कन्धों (भूत, मन) के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है जो अन्य बाह्य भूतों की भांति क्षण-क्षण उत्पन्न एवं विलीन हो रही है । क्षण-क्षण उत्पन्न होने और विलीन होने पर भी चित्त का प्रवाह जब तक इस शरीर में रहता है तब तक वह सजीव कहा जाता है। हमारे आध्यात्मिक और शारीरिक परिवर्तनों में बहुत समानता है । हमारा शरीर भी क्षण-क्षण बदलता है। आज जो शरीर की स्थिति है वह ६ वर्षों बाद कुछ दूसरी हो सकती है। एक एक अणु जिससे यह हमारा शरीर बना है दूसरे क्षण में दूसरा ही होता है। आज जो वस्तु हमें पसन्द है वह हो सकता है कुछ वर्षों बाद पसन्द न आये । यहाँ कहा जा सकता है कि मन बदलता है न कि आत्मा । किन्तु आत्मा मन से अलग कोई वस्तु नहीं है । चित्त, विज्ञान, आत्मा एक ही चीज़ है । जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, प्राण , जिह्वा और त्वक् इन्द्रियों को हम प्रत्यक्षा अनुभव करते हैं उस प्रकार मन को नहीं । हमें मन की सत्ता स्वीकार इसलिए करनी पड़ती है क्योंकि आँखें किसी वस्तु को देखती हैं और प्रभाव मन पर पड़ता है । नाक गन्ध सूंघती है और हाथ

नाक पर पहुँचता है। पाँचों इन्द्रियाँ अपना ज्ञान मन तक ही पहुँचाती हैं। मन के द्वारा ही शरीर के अंग प्रवर्तित होते हैं। इसलिए फिर आत्मा की क्या आवश्यकता? यदि यह कहा जाय कि पुराने अनुभवों को स्मृति के रूप में रखने के लिए आत्मा की आवश्यकता है क्योंकि मन तो क्षणिक है, तो इसका उत्तर यह है कि मन अपने परवर्ती मन का कारण भी। वह अपने पिछले मन की बातें एवं अनुभव आने वाले क्षण के मन पर छोड़ जाता है और वही स्मृति का कारण है। वस्तुतः संस्कार का प्रभाव तो क्षणिक वस्तु पर ही पड़ सकता है। आत्मा को यदि नित्य मानें तो वह अनन्त काल तक एक रस रहनेवाली होगी। सदा के लिए एक रस रहने वाली आत्मा पर अनुभवों का प्रभाव कैसे पड़ सकता है? अर्थात् अनुभव का ज्ञान उसे नहीं हो सकता। यदि पड़ भी जाय तो प्रभाव पड़ते ही रूप, परिवर्तन हो जायेगा। आत्मा कोई जड़ पदार्थ नहीं है जिसके बाह्य अवयव पर कुछ कहा जा सकता है। वह तो चैतन्यमय है। इसलिए इन्द्रियजनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायेगा। फिर वह राग, द्वेष, मोह आदि नाना प्रकारों में से किसी एक रूपाला हो जायेगा। तब फिर वह आत्मा वह आत्मा नहीं रह सकता जो प्रभाव पड़ने से पहले था। वह एकरस भी नहीं हो सकता। फिर आत्मा नित्य कैसे? इस प्रकार के वाद-विवाद आत्मा के विषय में बौद्ध दर्शन में मिलते हैं। किन्तु भगवान् बुद्ध ने 'त्रिपिटक' में 'अनात्मवाद' के नाम से जिसका वर्णन किया है वह इस प्रकार है।

अनात्मवाद

अनात्मवाद का शाब्दिक अर्थ है- अन- आत्म-वाद (आत्मा के अभाव का सिद्धान्त)। पालि शब्द है 'अन्ता' (नहीं आत्मा) जिसका सहारा लेकर अनेक विद्वानों एवं दार्शनिकों ने कहा

कर्मन् तु मे ज्ञप्रश्न आत्मानम् मे दिशत
 मे अस्मि पश्यन्ति किमुतुं नो विना । " विनापिठम् " मे आत्मानम् मे
 नो उपीत् । " आत्मापरिग्रही तुल्य " मे रूप मे उपलब्धम् है । तुल्य मे किमुतुं
 नो अस्तीति नरो तुल्यम् -

" किमुतुं । रूप आत्मा नरो है । किमुतुं ।
 यदि रूप आत्मा योजन नो एवम् हीन न योजन हीन न आत्मा मे अन्तः मे एव
 एवम् " मेरा रूप ऐसा ही, मेरा रूप ऐसा न हो । " क्योंकि किमुतुं रूप आत्मा
 नरो मे एवम् हीन रूप मे हीन योजन है । "

किमुतुं । योजन आत्मा नरो है, क्योंकि यदि
 योजन आत्मा योजन नो एवम् हीन न योजन हीन न आत्मा मे अन्तः मे एव
 एवम् " मेरा योजन ऐसा ही " मेरा योजन ऐसा न हो । " क्योंकि किमुतुं
 योजन आत्मा नरो है, एवम् हीन योजन मे हीन योजन है, हीन न योजन मे अन्तः
 मे एवम् एवम् " मेरा योजन ऐसा ही " मेरा योजन ऐसा न हो । "

रूप, योजन, हीन, एवम् हीन हीन विज्ञान मे हीन
 हीन मे हीन एवम् मे हीन नरो अन्तः मे हीन योजन है ।

१- " रूप, किमुतुं, योजन ।

रूप मे हीन किमुतुं ,

योजन अस्मिन् ,

नरो रूप आत्मानम् -----

रूप आत्मानम् अस्तीति वि ।

- आत्मानम् - १, २, २० ५० ७५

२- उपरिम्

केना नित्य है या अनित्य ?

“ अनित्य न्तो । ”

बौर पो अनित्य है कः दुःख है या सुख ?

“ दुःख मन्तो । ”

“ तो निरुपों । पो अनित्य है, दुःख है, निपरिणाम धर्मी है, क्या उलो अनित्य में यः समझना ठीक है कि यह मेरा है, कः मैं हूँ, कः मेरी आत्मा है । ”

“ नहीं मन्तो^१ । ”

“ निरुपों । संज्ञा नित्य है या अनित्य ?

“ अनित्य मन्तो । ”

“ बौर पो अनित्य है कः दुःख है या सुख ? ”

“ दुःख मन्तो ”

“ तो निरुपों, पो अनित्य है, दुःख है, निपरिणाम धर्मी है । क्या उलो अनित्य में यः समझना ठीक है कि यह मेरा है, कः मैं हूँ, कः मेरी आत्मा है ? ”

“ नहीं मन्तो^२ । ”

१- “ तं हि मज्झम निपत्ते,

इयं नित्यं वा अनित्यं ? ---- तो शेरामन्तो ।

- विनयपिटक - मज्झिम १. च. २०

२- उपारिद्धम्

इसी प्रकार संस्कार, विज्ञान इत्यादि के विषय में कुछ मिश्रणों से पूछे हैं । निम्न उनकी दुःसहोरी एवं अनित्य ही बताते हैं ।

कुछ मिश्रणों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं -

“ मिश्रणों । जो कुछ भी क्या भेदना है बाहे वह कतिपय की हो, या मविष्य की या वर्तमान की, वात्सरिक या वाय, स्थूल या सूक्ष्म , हीन या प्रणीत , समीप की या दूर की, वह सब भेदना मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी वात्मा नहीं है, इस प्रकार सम्पूर्ण प्राण के द्वारा क्याभूत रूप से देखना चाहिए । ”

“ इसलिए मिश्रणों । जो कुछ भी संस्कार क्या है , जो कुछ भी रंजना क्या है, जो कुछ भी विज्ञान क्या है, बाहे वह कतिपय की हो या मविष्य का या वर्तमान का, वात्सरिक या वाय, स्थूल या सूक्ष्म , हीन या प्रणीत , समीप का या दूर का , यह सब विज्ञान, संस्कार रंजना , मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी वात्मा नहीं है, इस प्रकार सम्पूर्ण प्राण के द्वारा क्याभूत रूप से देखना चाहिए । ”

१- विनयपिटक - महासङ्घ - १. प. २०

२- “ वा वाणि रञ्जना कतिपयगतपञ्चुप्पन्नावज्झरा वा
महिद्धा वा वोष्कारिणा वा सुमुता वा हीना वा
पणीता वा वा दूरे सन्ति वा,
सम्मा ----- सम्मे
यथाभूतं सम्मपञ्चाय दट्ठब्बं ।

- वही १. प. २२ पृ० १७

“ इसलिये भिक्षुओं । जो कुछ भी संस्कार
यहाँ हैं, जो कुछ भी संज्ञा यहाँ है, जो कुछ भी विज्ञान यहाँ है, चाहे वह
कृतित का हो या भविष्य का या वर्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल
या सूक्ष्म , हीन या प्रणीत , समीप का या दूर का, वह सब विज्ञान , संस्कार
संज्ञा, मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक्
प्रज्ञा के द्वारा यथामृत रूप से देखना चाहिए । ”

बुद्ध अपने शिष्यों को बताते हैं कि उपर्युक्त पंच
स्कन्धों की जानकारी के पश्चात् श्रुतवान् आर्य श्रावक रूप में, वेदना में, संज्ञा
में निर्वेद प्राप्त करता है, निर्वेद प्राप्त करके विरक्त होता है, विराग से वि-
मुक्ति प्राप्त करता है । विमुक्त होने पर उसे यह ज्ञान होता है “ मैं विमुक्त
हूँ ” । जन्म का दाय हो गया, ब्रह्मचर्यास पूरा हुआ, करना था सो कर
लिया अब आगे कुछ शेष नहीं है, ऐसा वह प्रज्ञा के द्वारा जानता है ।

वस्तुतः मनुष्य अविद्या के कारण ही इन पंच
स्कन्धों को आत्मा समझ बैठता है। किन्तु यह अविद्या उत्पन्न कैसे होती है
यह बात कहीं नहीं बतायी गयी है। इस चक्र का प्रारम्भ कहाँ है यह प्रतीत
नहीं होता । हमें इसके कारण का भी पता नहीं चलता । अविद्या ऐसी वस्तु
है जिसको समझना अत्यन्त कठिन है। बुद्ध की दृष्टि में प्रत्येक जीवित प्राणी
जो गति करता है और अपना वैयक्तिक अस्तित्व प्रदर्शित करता है, वह अविद्या
के कारण ही करता है। स्वयं जीवन इसकी गवाही देता है कि अविद्या उपस्थित
है । जब हम घड़ी के लटकन को झूलती हुई देखते हैं तो हम अनुमान करते हैं कि
अवश्य किसी ने उसका संचालन किया है। हम अनुमान करते हैं कि अविद्या ही

१- महावग्ग १. ८. २२ पृ० १७

२- ,, १. ८. २३ पृ० १७

समस्त जीवन की पूर्ववर्ती आवश्यक अवस्था है। इससे पूर्व कुछ नहीं है। क्योंकि संसार की प्रक्रिया का कहीं आरम्भ नहीं है। बुद्ध की दृष्टि में अज्ञान निश्चय ही नित्य रहा होगा।

कार्य- कारण सम्बन्धी विवरण में भी अविद्या को मुख्य स्थान दिया गया है। क्योंकि अविद्या के कारण ही सारी इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। बुद्ध का तो यहाँ तक कथन है कि हम अपने अहं के यथार्थ स्वरूप के बारे में भी अनभिज्ञ हैं। चार आर्य सत्य को न जानने के कारण ही तो मनुष्य को वर्तमान जीवन की अनुभूति होती है। उपनिषदों में भी सब दुःखों का कारण अविद्या ही बतायी गयी है और इस अज्ञान का रूप, उनके अनुसार जीवात्मा के विश्वात्मा के साथ मूलभूत तादात्म्य का अज्ञान है जिसके कारण अहंकार उत्पन्न होता है। उपनिषदों एवं त्रिपिटकों में यह अहंकार का भाव अविद्या का परिणाम है। दोनों के ही मत में सम्यक् ज्ञान का अभाव ही कारण है, जो सत्य को हम सबसे छिपाये रक्ता है।

त्रिपिटकों में अनात्मवाद की चर्चा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के माध्यम से की गयी है। पहली है रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा नहीं सम्झना चाहिए। क्योंकि इनके चक्कर में पड़कर मनुष्य में तृष्णाएँ बढ़ती हैं। दूसरी बात यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य है, दाण मंगुर है, इनसे दुःख ही मिलता है, अतः इन्हें आत्मा नहीं कहा जा सकता। तीसरी बात यह है कि ये सब जब आत्मा नहीं है तो इनसे दूर रहना चाहिए इनसे छुटकारा पाना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध पाँचों स्कन्धों रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान

को आत्मा के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उपर्युक्त स्कन्धों के विषय में जानकारी के लिए शिष्य बुद्ध के पास आते होंगे एवं बुद्ध उन प्रश्नों को विभिन्न उपायों एवं उद्धरणों द्वारा सम्पन्न कर उनकी दृष्टि दूसरी ओर कर देते होंगे। भिक्षुओं के सामने भी इस प्रकार की अनेक समस्याएँ रही होंगी जिनको सम्भवतः वह सम्पन्न नहीं पाते होंगे। क्योंकि बुद्ध पूर्व समय में यह धारणा थी कि इस विज्ञानमय शरीर में आनन्दमय आत्मा रहता है, वह विज्ञान शरीर में भरा हुआ है, इसलिए विज्ञान शरीर के समानवाकार वाला यह आनन्दमय आत्मा का आनन्द शरीर है। इसके गुण, धर्म, प्रेम, मोद, प्रमोद स्वभाव सिद्ध है।

जो सूर्य मण्डल में आत्मा है वही इस शरीर में आत्मा होकर रहता है। मनुष्य में और शरीर में एक ही आत्मा है। आनन्दमय विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय अन्नमय इन पाँचों कोशों में यही आत्मा कार्य करता है। मृत्यु के पश्चात् यही इन कोशों के परे जाता है।

त्रिपिटक में बुद्ध ने इन पाँचों कोशों को नाम बदल कर पंच स्कन्ध कह कर फुकारा है, जो इस प्रकार है -

- उपनिषद् - बुद्ध
- मनोमय - रूप
- अन्नमय - वेदना
- प्राणमय - संज्ञा
- आनन्दमय - संस्कार
- विज्ञानमय - विज्ञान

बुद्ध का कथन था कि इन पंच स्कन्धों और

चार महाभूत - पृथ्वी, अप, तेज, वायु से मिलकर ही मनुष्य का शरीर बना है। किन्तु यह सब वात्मा नहीं है अनात्म है। उनकी दृष्टि में संवेदन और विचार तथा वह भौतिक शरीर जिससे यह सम्बद्ध है, वात्मा था। वात्मा इन सबका संघात है। इस संघात से अलग या इसमें छिपी हुई किसी सत्ता को उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

मगवान् ने कहा है कि जो कोई भी वात्मा को प्रप्ताप्त करनेवाला है, वह इन ४ प्रकारों से ही वैसा करता है, यथा- (१) मेरी वात्मा रूपधारी और अणु है, (२) मेरी वात्मा रूपमान् और अनन्त है (३) मेरी वात्मा अरूप और अणु है (४) मेरी वात्मा अरूप अनन्त है। " आनन्द । जिस कारण से कोई मनुष्य पंचस्कन्धों में वात्मा देखता है, वे ये हैं - ① वह वेदना को "वेदना मेरी वात्मा है" ऐसा समझता है, अथवा ② वेदना मेरी वात्मा नहीं, अप्रति संवेदन मेरी वात्मा है, ऐसा समझता है अथवा ③ वेदना मेरी वात्मा है, न अप्रतिसंवेदन मेरी वात्मा है, मेरी वात्मा वेदित होती है, ④ अतः वेदना धर्म वाली मेरी वात्मा है " आनन्द । ऐसे वात्मा को देखने वाला देखता है। मगवान् ने इन सबको मूढ़ता ही मूढ़ता कहा है। बुद्ध का कथन था कि जब वेदनायें अनित्य, संस्कृत, प्रत्यय से उत्पन्न

१- "दी० नि० २॥ २

महनिदान सुत्त - भरत सिंह उपाध्याय के ग्रन्थ - बौद्ध दर्शन तथा
अन्य भारतीय दर्शन से उद्धृत पृ० ४३१

२- वही

३- म० नि० १॥ १॥ १ मूल परियाप सुत्त पृ० १

होने वाली स्व जाय होने वाली है तो इनमें से कौन सी वेदना को तुम आत्मा कहते हो । वेदना भी तीन प्रकार की होती है- १- सुख वेदना २- दुःख वेदना ३- असुख-दुःख वेदना । इन तीनों प्रकार की वेदनाओं में से कौन सी वेदना को तुम आत्मा कहते हो ? क्योंकि भिद्युर्वा । जिस समय कोई सुख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे दुःख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख - दुःख वेदना की, उस समय उसे केवल सुख- वेदना की ही अनुभूति होती है। जिस समय कोई दुःख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय उसे केवल दुःख वेदना की अनुभूति होती है । जिस समय कोई असुख- दुःख वेदना की अनुभूति करता है , उस समय न तो उसे सुख वेदना की अनुभूति होती है, न दुःख वेदना की , उस समय उसे केवल असुख- दुःख वेदना की अनुभूति होती है ।^१

भिद्युर्वा । ये तीन वेदनायें अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रत्यय से उत्पन्न होने वाली हैं , निरोध को प्राप्त होने वाली हैं । इन तीनों वेदनाओं में से किसी एक की भी अनुभूति करते समय यदि ऐसा होता है कि " यह आत्मा है " तो फिर उस वेदना का निरोध होते समय उसे ऐसा लगेगा कि मेरी आत्मा टूट रही है, बिखर रही है। " इस प्रकार वह अपने सामने ही अनित्य, सुख- दुःखमय उत्पन्न और विनाश होने वाली आत्मा को मानता है ।^२ भिद्युर्वा । यदि कोई कहे कि " मेरी वेदना आत्मा नहीं , आत्मा की अनुभूति नहीं होती " तो उससे यह पूछना चाहिए कि वायुष्मन् । जहाँ किसी की अनुभूति ही नहीं, उसके बारे में यह क्या हो सकता है कि मैं " यह " हूँ ?^३ " फिर भिद्युर्वा । यदि कोई ऐसा कहे , " कि मेरी वेदना आत्मा नहीं, आत्मा की अनुभूति नहीं होती, किन्तु मेरा आत्मा अनुभव करता है, मेरे आत्मा का स्वभाव है , " वेदना तो उससे पूछना चाहिए कि यदि सभी वेदनाओं का निरोध हो जाय, तो क्या

१- दी० नि० २. २ भाग १ पृ० ५३

२- दी० नि० २. २ पृ० ५३ महासतिपट्ठान सुत्त पृ० २१७

३- दी० नि० ६. ३. ६ द्रष्टव्य - भरतसिंह उपाध्याय- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ४३१

किसी एक भी वेदना के न होने पर ऐसा होगा कि " यह " आत्मा " मैं हूँ, अगर कोई मनुष्य मन को आत्मा मानता है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मन की उत्पत्ति स्व निरोध दोनों होते हैं। और जिसकी उत्पत्ति स्व निरोध दोनों बिनायी देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि " मेरी आत्मा उत्पन्न होती है स्व भरती है। इसलिए " मन आत्मा है " ऐसा कहना ठीक नहीं। मन अनात्म है^२। इसी प्रकार " मनोविज्ञान " धर्म और चातुर्महाभूतिक शरीर ये सभी भगवान् ने अनात्म बताया है। इन परिवर्तनशील पदार्थों को " मैं " और " मेरा " करके नहीं सम्भलना चाहिए। इसी एक मन्तव्य को सामने रखकर उन्होंने निर्वाण प्राप्त कराने एवं दुःख से छुटकारा प्राप्त कराने का मार्ग सौज कर भिक्षुओं को वामन्त्रित किया " भिक्षुओ। सभी संस्कार अनित्य है, सभी संस्कार दुःख है, सभी धर्म अनात्म है, अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है। जो दुःख है वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरी है, न वह मैं हूँ, न वह मेरी आत्मा है^३।

बुद्ध अनेकों बार कहते हैं कि सभी संस्कार, सभी वेदनाएं सभी विज्ञान दुःख हैं। चाहे तथागत उत्पन्न हों या न हों। यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार अनात्म है, विज्ञान अनात्म है^४। चक्षु, रूप

१- दी० नि० ६. ३. ६

२- म० नि० ३. ५. ६

उपर्युक्त उद्धरण के लिए - द्रष्टव्य- भारतसिंह उपाध्याय - बौद्ध दर्शन

तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ४३२

३- महावग्ग - विनयपिटक १. ८. २०, २२ पृ० १६, १७

४- अ० नि० १०. ६. ४ भाग ५ पृ० १८६

श्रोत्र, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय इत्यादि सब अनित्य हैं^१। बुद्ध का कहना था कि इस विषय में जितने भी व्याख्यान दिये जायें सब निष्फल हैं। इसीलिए यदि कोई मनुष्य भौत विषय में पूछे कि तथागत अब है भविष्य में होंगे कि नहीं, "मैं अब हूँ" ऐसा भी नहीं, मैं भविष्य में नहीं होऊँगा "ऐसा भी नहीं"^२।

बुद्ध यदि उपर्युक्त प्रकार की धारणाओं पर मरोसा करते तो प्राग्वैदिककालीन प्रचलित ६२ मिथ्या धारणाओं को ही क्यों न अपना लेते। उन धारणाओं को उन्होंने मिथ्या कहकर क्यों फुकारा होता ?

बुद्ध पाँचों स्कन्धों- रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान एवं अभिधम्म में "चित" "क्षैतिक" और "रूप" के रूप में अनात्म की भावना करके मुक्ति प्राप्त किये थे। यही उपदेश वे अपने शिष्यों को देते थे। उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु अनात्म है और स्थिर रहने वाली नहीं है। तभी तो वे इन वस्तुओं से मन के छटाने का उपदेश देते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उपनिषदों में उल्लिखित आत्मवाद की बुद्ध ने आलोचना की है ? इस समस्या का समाधान तो हम आने वाले अध्याय में ही करेंगे कि बुद्ध का अनात्मवाद का उपदेश देने का क्या तात्पर्य था। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त होगा कि बुद्ध ने उपनिषदों में उल्लिखित आत्मवाद की आलोचना नहीं की है। बुद्ध से जब भिक्षु आकर आत्मवाद के विषय में प्रश्न करते थे तो बुद्ध को इस विषय में जहाँ तक ज्ञान था भिक्षुओं को बता देते थे। किन्तु इससे यह तात्पर्य तो नहीं निकाला

१- अ० नि० १०. ६. ४ भाग ५ पृ० १८६

२- दी० नि० ६. २. १६ भाग १ पौदपाट्ठसुत्त

जगत् को किसी अन्य उपादान कारण से बनाता है, तो कुम्हार की भाँति अलग रहकर बनाता है या उसमें व्याप्त होकर ? अलग होने पर वह सर्वव्यापक नहीं रहेगा , और सृष्टि करने के लिए उसे दूसरे साधनों का सहारा लेना होगा ।

इस प्रकार ईश्वर न उपादान कारण हो सकता है न निमित्तकारण । जगत् का कोई उपादान कारण होना ही चाहिए यह कोई जरूरी नहीं । यदि उसका कारण कौन, उसका कारण कौन ? पूछने पर जगत् की किसी सूक्ष्मतम वस्तु या उसकी विशेष शक्ति पर नहीं मुकने दिया जाय , तो ईश्वर तक ही क्यों रुका जाय ? क्यों न ईश्वर का भी कोई दूसरा कारण माना जाय ? इस प्रकार ईश्वर का आदि कारण मानना युक्ति युक्त नहीं है । ईश्वर सृष्टि कर्ता है, यह मानना उपयुक्त नहीं । यदि सृष्टि अनादि है, तो उसको किसी कर्ता की जरूरत नहीं, क्योंकि कर्ता होने पर उसे कार्य से पहले उपस्थित रहना चाहिए । यदि सृष्टि का आदि है तो अनन्त वर्षों से लेकर सृष्टि उत्पन्न होने के समय तक उस क्रियारहित ईश्वर के होने का प्रमाण क्या है ? क्रिया ही तो उसके अस्तित्व को स्वीकार कर सकती है ।^१

ईश्वर के मानने पर मनुष्य को उसके अधीन होना पड़ेगा , जबकि मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है । फिर मनुष्य को शुद्धि एवं मुक्ति के लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता ? फिर तो धर्मों के बताये हुए और धर्म की निष्फल ?^२ वस्तुतः ईश्वर मनुष्य की मानसिक सृष्टि है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्मों^३ राहुल जी किसी प्रकार भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकृत करने को राजी

१- द्रष्टव्य- राहुल सांकृत्यायन- बौद्ध दर्शन पृ० २, ३

२- उपरिचित

नहीं। सम्भवतः उपर्युक्त प्रकार की धारणा उनमें बौद्ध ग्रन्थों के पढ़ने के उपरान्त ही उत्पन्न हुई होगी।

त्रिपिटकों में भी अनेक स्थलों पर ऐसे वर्णन मिलते हैं जहाँ बुद्ध ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वालों पर उपहास सा करते प्रकट होते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में 'प्रश्नोपनि-
षद्' में कहा गया है -

“ ब्रह्म ने ---- कामना की। ---- तप करके
उसने इस सब (विश्व) को पैदा किया। ”

“ आत्मा ही पहले अकेला था। ---- उसने
कहा - “ लोकों का सृजन करूँ। उसने इन लोकों की रचना की।

इस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत् की
बुद्ध क्या गति बनाते हैं -

मल्लों के एक प्रजातन्त्र की राजधानी अनुप्पिया
में बुद्ध- भार्गव- गौत्र वाले एक परित्राजक से इस बात पर वार्तालाप कर रहे
हैं-

“ भार्गव । जो श्रमण ब्राह्मण ईश्वर या ब्रह्मा
के कर्तापि को श्रेष्ठ बताते हैं ? ” मेरे ऐसा पूछने पर वे “ हाँ ” कहते हैं ।
उनसे मैं (फिर) पूछता हूँ---- “ आप लोग कैसे ईश्वर या ब्रह्मा के कर्तापि
को श्रेष्ठ बताते हैं ? मेरे ऐसा पूछने पर---- वे मुझसे ही पूछने लगते हैं ।----
मैं उनको उत्तर देता हूँ-----बहुत दिनों के बीतने के बाद---- इस लोक का

प्रलय होता है। ---- फिर बहुत दिनों के बाद इस लोक की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति होने पर शून्य ब्रह्म विमान (ब्रह्मा का उड़ता फिरता विमान) प्रकट होता है। तब (मास्वर देव लोक) का कोई प्राणी आयु के क्षीण होने से पुण्य के क्षीण होने से---- उस शून्य ब्रह्मविमान में उत्पन्न होता है। ----- वह वहाँ बहुत दिनों तक रहता है। बहुत दिनों अकेला रहने के कारण उसका जी ऊब जाता है और उसको भय मालूम होता है। अहो ! दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें । ---- दूसरे प्राणी भी आयु के क्षय होने से --- शून्य ब्रह्म विमान में उत्पन्न होते हैं । ---- जो प्राणी वहाँ पहले उत्पन्न होता है, उसके मन में होता है----- मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा , विजेता, सर्वज्ञ, यशवर्ती, ईश्वर-क्ता , निर्माता, श्रेष्ठ स्वामी और भूत तथा भविष्य के प्राणियों का पिता हूँ । मैं ही इन प्राणियों को उत्पन्न किया है। ---- क्योंकि मेरे ही मन में यह पहले हुआ था । दूसरे भी प्राणी यहाँ आवें । क्तः मेरे ही मन से उत्पन्न हुए , उनके मन में भी उत्पन्न होता है, यह ब्रह्मा ---- ईश्वर क्ता है ---- सो क्यों , (इसलिए कि) हम लोगों ने इसको पहिले ही यहाँ विद्यमान पाया , हम लोग तो पीछे उत्पन्न हुए । ” दूसरे प्राणी जब उस (देव) काया को छोड़ कर इस (लोक) में आते हैं । ---- (जब इनमें से कोई) समाधि को प्राप्त कर उससे पूर्व जन्म को स्मरण करता है, उसके आगे नहीं स्मरण करता है । वह कहता है “ जो वह ब्रह्मा ---- ईश्वर क्ता है, वह नित्य ध्रुव है, शाश्वत निर्विकार और सदा के लिए वैसा ही रहने वाला है । और जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं (वे) अनित्य अध्रुव, अल्पायु, मरणशील हैं । इस प्रकार (ही तो) आप लोग ईश्वर का कर्तापन कतलाते हैं ? वे कहते हैं, “ जैसा आयुष्मान् गौतम कतलाते हैं, वैसा ही हम लोगों ने (भी) सुना है। ”

उपर्युक्त कथन में ब्रह्मा को जगत् का कर्ता बताया

१- दी० नि० १. ८. ३० , ३. १ पाथिकसुत्त

२- द्रष्टव्य- राहुल सांकृत्यायन - बौद्ध दर्शन पृ० ४०

गया है। उपर्युक्त प्रकार की धारणा का आधार तो सम्भवतः बुद्ध के सामने उपनिषद् ही रहे होंगे। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसी प्रकार की कल्पना की गयी है। वहाँ कहा गया है कि आरम्भ में आत्मा ही अकेला था। बाद में उससे पुरुष उत्पन्न हुआ। उसका अकेले मन नहीं लगा। अतः उस एक आत्मा से अनेक आत्मायें उत्पन्न हुई^१। किन्तु ऊपर जो दीर्घ निकाय का उद्धरण हमने प्रस्तुत किया उसमें बुद्ध एक प्रकार से उपनिषदों में उल्लिखित ब्रह्मा ही जगत् का पालनकर्ता है इस पर उपहास करते प्रकट होते हैं। उपनिषदें सृष्टि आदि विषयों में कारण - कार्य भाव के सिद्धान्त को मानती हैं। आरम्भ में एक आत्मा था। वह कारण था। उसने कहा मैं ही सबका पिता हूँ, मैं ही अन्य प्राणियों को उत्पन्न किया अतः मैं ही सबका ईश्वर हूँ। बुद्ध उपनिषदों की इस बात से सहमत है कि "आरम्भ में एक आत्मा था उससे अनेक हुए।" सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में वे कारण- कार्य भाव के सिद्धान्त को नहीं मानते। उस ब्रह्मा से ही सारी सृष्टि प्रकट हुई है वही कर्ता है, वे इस बात के पक्ष में नहीं हैं। वे इस विषय में कोई निश्चयपूर्वक उत्तर नहीं देते हैं और इस प्रकार के प्रश्नों को अव्याक्त कह कर टाल देते हैं।

अपने उद्धरण में बुद्ध ने जो सृष्टि- प्रक्रिया बतायी है, इसमें यह स्पष्टतया नहीं बताया गया कि इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? यहाँ सृष्टि के पहले प्रलय फिर सृष्टि के आविर्भूत होने की बात कही गयी है। कुछ अन्य बातें और भी हैं जो स्वयं आलोचना करने लायक हैं -

१- ब्रह्म और ब्रह्मा दोनों के बीच में गोलमाल किया गया है। उपनिषदों में जिस तत्त्व का उपदेश दिया गया है वह ब्रह्म है

१- बृह० ४.१.२ - आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुष विधः -----

न रमते स द्वितीयमैच्छत् ॥

न कि ब्रह्मा ।

२- यहाँ ब्रह्मविमान की बात कही गयी है ।

जब बुद्ध ब्रह्म को ही स्वीकार नहीं करते तो ब्रह्म विमान की बात कहाँ से आयी ।

३- देवलोक सृष्टि के अन्तिम ही जाता है , अतः सृष्टि के प्रारम्भ में देवलोक के किसी प्राणी का शून्य ब्रह्म विमान से उत्पन्न होना असम्भव है ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वचनों में वास्तविकता यह है कि भगवान् बुद्ध अपने मत को उपपादित करने के लिए ही अपने से पूर्व मतों का खण्डन करना चाहते थे । इस कथन में उन्होंने जिन बातों को वेदों का मत कह कर उद्धृत किया है । वे वस्तुतः वेद के सही मत न होकर सुनी सुनायी वेद सम्बन्धी बातें मालूम होती हैं। इन मतों को आधार मान कर बुद्ध जो अपने मत व्यक्त करते हैं वह काफी भ्रामक है । उदाहरणार्थ ऋग्वेद का यह मन्त्र इस बात की पुष्टि के लिए सहायक हो सकता है -

“ यह विविध रूपों वाली सृष्टि जहाँ से आयी है । (इसको वह) या तो धारण किये था या अगर नहीं (तो कौन धारण किये था ?) जो इसका ईश्वर है, वह सर्वोच्च स्वर्ग में है, वही निश्चित रूप से इसे जानता है, या तो वह भी नहीं जानता । ”

उपर्युक्त मन्त्र में ईश्वर के सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान

१- ' इयं विसृष्टि र्यं वा बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो अस्याध्यक्षाः परमेव्योमन्तसिद्धिः वेद यदि वा न वेद ॥

के विषय में जो अनिश्चयात्मकता प्रकट की गयी है, सम्भवतः उसी को आधार मानकर बुद्ध ने अपने उपर्युक्त मत को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा (ईश्वर) का बुद्ध ने एक जगह और सूक्ष्म परिहास किया है।

“ बहुत पहले एक भिक्षु के मन में यह प्रश्न हुआ-
ये चार महाभूत - पृथ्वी, अप, तेज, वायु कहां जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं - ----- उसने चातुर्महाराजिक देवताओं (के पास) जाकर पूछा----- ।
चातुर्महाराजिक देवताओं ने उस भिक्षु से कहा----- हम भी नहीं जानते ----
----- हमसे बढ़कर चार महाराजा हैं। वे शायद इसे जानते हों। हमसे भी बढ़कर त्रायस्त्रिंश, याम, सुयाम, तुष्णित, सन्तुष्णित देवपुत्र----- निर्माणरति देवगणा (सुनिर्मित देवपुत्र) परनिर्मित वशवर्ती (देवगणा) वशवर्ती नामक देवपुत्र ---- ब्रह्मायिक नामक देवता हैं, वे शायद इसे जानते हों। ब्रह्मायिक देवताओं ने उस भिक्षु से कहा- हम से भी बढ़ कर देवता ब्रह्मा हैं----- वे ईश्वर- कर्ता, निर्माता ---- सभी पैदा हुए और होने वालों के पिता हैं, शायद वे जानते हों। (भिक्षु के पूछने पर उन्होंने कहा) “ हम नहीं जानते कि ब्रह्मा (= ईश्वर) कहां रहते हैं ? इसके बाद शीघ्र ही महाब्रह्मा (= महान् ईश्वर) भी प्रकट हुए। (भिक्षु ने) महाब्रह्मा से पूछा----- ये चार महाभूत कहां जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ? महाब्रह्मा ने कहा----- मैं ब्रह्मा ----- ईश्वर ----- पिता हूँ। ----- दूसरी बार भी ----- महाब्रह्मा से पूछा----- मैं तुमसे यह नहीं पूछता हूँ----- कि तुम ब्रह्मा, ईश्वर, पिता हो।-----मैं तो तुमसे यह पूछता हूँ ----- ये चार महाभूत ----- कहां ----- बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ? -- तीसरी बार भी----- पूछा----- तब महाब्रह्मा ने उस भिक्षु की बांह फँस (

१- दी० नि० ११, २, ८ भाग २ पृ० १८६

२- ,, ११, ३, १३ प० १८८ क्वेट्सुत्त

देवताओं की सभा से) एक ओर ले जाकर कहा ----- हे भिक्षु , ये देवता -
----- मुझे ऐसा समझते हैं कि ---- (मेरे लिए) कुछ वज्ञात ----- अवृष्ट
नहीं है, इसीलिए मैं ने उन लोगों के सामने नहीं बताया । भिक्षु । मैं भी नहीं
जानता ---- यह तुम्हारा ही दोष है ---- कि तुम --- (बुद्ध) को झोड़
बाहर से इस बात की खोज करते हो । ----- उन्हीं के ---- पास जाओ ,
जैसा वे कहें वैसा ही समझो । ”

इस उपहास भरी कहानी से बुद्ध बताना चाहते
थे कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव, शाश्वत नहीं है। न वह सृष्टि को बनाता
है, न बिगाड़ता है। वह भी दूसरे प्राणियों की भाँति जन्मने, मरने वाला है,
वह अनेक देवताओं में से एक देवता मात्र है ।

“ एक देवता मात्र है ” शब्द सूचित कर
रहा है कि बुद्ध ईश्वर को एक देवता के रूप में मानते थे । इस बात के मानने
वाले थे कि सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है ।

बुद्ध ने एक बार स्वयं ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा
(ईश्वर) को फटकारा । इसका प्रमाण मज्झिम निकाय के “ ब्रह्मनिर्माण्तिक
सुत्त ” के द्वारा मिलता है -

“ एक समय ब्रह्म ब्रह्मा को ऐसी धारणा हुई
कि यह ब्रह्म लोक नित्य- ध्रुव, शाश्वत, अच्युत, अज, अमर है, ~~अच्युत~~ न च्युत,
होता है, न उपजता है । इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुँचने का स्थान)
नहीं है। तब मैं ब्रह्म लोक में प्रकट हुआ । उसी समय मार एक ब्रह्मपाण्डित (
शरीर के) भीतर प्रविष्ट हो मुझसे बोला - “ भिक्षु । भिक्षु । मत हन

ब्रह्मा का अपमान करो । भिक्षु । ये ब्रह्मा हैं, महाब्रह्मा, अभिभू (विजेता) अन्-
 अभिभूत (सर्वदर्शी) वशवर्ती, ईश्वर (सृष्टि) कर्त्ता, निर्माता, प्रष्टा मव्य
 (प्राणियों के) पिता हैं । भिक्षु । तुम से पूर्व भी लोक में पृथ्वी नन्दक,
 देवनिन्दक- प्रजापति निन्दक श्रामण ब्राह्मण हुए थे वे काया छोड़कर प्राण के
 विच्छेद होने पर हीन काया में प्रतिष्ठित हुए । इसलिए भिक्षु , जो ब्रह्मा कहें
 वह तू कर । “ ऐसा कहने पर भी मैं मार के वश में नहीं आया । उसके बाद
 फिर बक ब्रह्मा ने कहा- “ आर्ष । मैं नित्य होते ही नित्य कहता हूँ----
 आगे दूसरा निस्सरण न होने की पर आगे दूसरा निस्सरण नहीं है कहता
 हूँ----- आगे दूसरा निस्सरण न होने पर “ आगे निस्सरण नहीं देस पायगा,
 सिर्फ परेशानी का भागी बनेगा । यदि भिक्षु । तू पृथ्वी की अध्ययना
 (प्रार्थना) करेगा , तो तू मेरा पार्श्वचर, गृहस्थायी , यथेच्छकारी , स्वल्प-
 कारी होगा । यदि भिक्षु तू जल की ---- तेज की--- वायु की --- देवता
 की---- प्रजापति की, ब्रह्मा की ।

भगवान् ने कहा- “ मैं इसे जानता हूँ, (कि)
 यदि मैं पृथ्वी की अध्ययना करूंगा तो तेरा पार्श्वचर होऊंगा । ब्रह्मा की---
 हत्यादि प्रकार से । किन्तु ब्रह्मा मैं तेरी गति निष्पत्ति और प्रभाव को जानता
 हूँ----- ऐसे महर्षिक (महा क्रद्धिवाला) बक ब्रह्मा हैं । ऐसे महाप्रभावशाली
 बक ब्रह्मा हैं, ऐसे शक्तिशाली बक ब्रह्मा हैं । क्या तू मावि । मेरी गति को जानता
 है ? भगवान् उत्तर देते हैं- “ चांद सूर्य जितने को धारण करते हैं जितनी दिशाये
 प्रकाश से प्रकाशित होती हैं उतने हजार लोक (जगत्) तेरे वश में हैं । तू प्रा-
 णियों के हत्यभाव, अन्यथा भाव को जानता है। “ ब्रह्मा इस प्रकार मैं तेरी
 गति जुति को जानता हूँ । ब्रह्मा । और भी तीन काय (लोक) हैं जिन्हें तू

नहीं जानता, देस्ता। किन्तु मैं उन्हें जानता हूँ। ब्रह्मा। आभास्वर नामक (देव) काय है। जहाँ से च्युत होकर तू यहाँ उत्पन्न हुआ। चिरकाल यहाँ निवास के कारण कैशु तुझे इसका स्मरण नहीं, जिससे तू उसको नहीं जानता मैं जानता हूँ। इस तरह भी ब्रह्मा। अमिज्ञा (= ज्ञान) मैं मैं तेरे बराबर नहीं हूँ बल्कि तुम्ह से बढ़कर हूँ। ब्रह्मा। शुभकृत्स्न नामक (देव) काय भी है। ब्रह्मा। बृहत्फल नामक (देव) काय भी है- तुम्ह से बढ़कर हूँ। ब्रह्मा। मैं पृथ्वी को पृथ्वी के तौर पर जानकर जो (निर्वाण) पृथ्वी के पृथ्वीत्व से परे है, उसे भी जानकर, मैं (तृष्णा की दृष्टि, या मान के ग्रहण से) पृथ्वी को नहीं फलौं था, पृथ्वी का नहीं था, पृथ्वी से नहीं था, पृथ्वी भरी है यह मुझे नहीं हुआ पृथ्वी का अभिवादन (प्रार्थना) मैं नहीं किया। इस तरह भी ब्रह्मा मैं तेरे बराबर नहीं हूँ तुम्ह से बढ़कर हूँ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध सृष्टि की उत्पत्ति में ब्रह्मा का कोई योगदान स्वीकार करने को तैयार नहीं। यद्यपि ब्रह्मा में अपार शक्ति है। सब देवताओं से उनका स्थान ऊँचा है किन्तु स्वयं बुद्ध की शक्ति के सामने वे तुच्छ हैं। बुद्ध के अनुसार सम्पूर्ण संसार का जो ज्ञान बुद्ध में है वह किसी देवता विशेष में नहीं है। यद्यपि सूर्य, चाँद, तारागण सब उसी की आज्ञा से प्रकाशित होते हैं किन्तु फिर भी बुद्ध के समान उनमें ज्ञान का प्रकाश नहीं है।

त्रिपिटक में बुद्ध ने अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रकार की उपमायें देकर उपनिषदों में उल्लिखित ब्रह्मवाद की आलोचना की है। एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं कि ब्राह्मण लोग अन्ध के पीछे चलने वालों की भाँति बिना ज्ञान, देस ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोक पर विश्वास रखते हैं, इस भाव को समझाते हुए एक स्थल पर बुद्ध ने कहा-

“ वशिष्ठ ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा- ” हे गौतम मार्ग अमार्ग के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण , कान्दोग्य ब्राह्मण, कन्दावा ब्राह्मण----- नाना मार्ग बताते हैं, तो भी वह ब्रह्मा की सलीकता को पहुँचाते हैं । जैसे----- ग्राम या कस्बे के पास बहुत से मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राम में जाने वाले होते हैं^१ । “ वशिष्ठ ” ? त्रैविध ब्राह्मणों में एक ब्राह्मण भी नहीं, जिसने ब्रह्मा को अपनी आँख से देखा हो----- एक आचार्य----- एक आचार्य -- प्राचार्य ----- सातवीं पीढ़ी तक का आचार्य भी नहीं । ब्राह्मणों के पूर्वज , ऋषि , मन्त्रों के कर्ता , मन्त्रों के प्रवक्ता ----- ~~बुद्ध~~ अष्टक , वामक, कामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि , अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु में क्या कोई है, जिसने ब्रह्मा को अपनी आँख से देखा हो ----- जिसको न जानते हैं , न देखते हैं, उसकी सलीकता के लिए मार्ग का उपदेश करते हैं----- । वशिष्ठ यह तो वैसे ही हुआ । जैसे अन्धों की पाँति एक दूसरे से जुड़ी हो, पहले वाला भी नहीं देखता , बीच वाला भी नहीं देखता, पीछे वाला भी नहीं देखता^३ ।

बुद्ध का कहने का तात्पर्य सम्भवतः यह है कि यदि ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति करता है, तो वह हमारे सामने क्यों नहीं आता । किस आधार पर हम ब्रह्मा या ईश्वर को सृष्टि कर्ता मान ले जबकि हमारे पास कोई जीता जागता प्रमाण भी नहीं है। बुद्ध ने वैदिक ऋषियों को भी सर्वज्ञ नहीं माना है और न अपने नैतिक आदर्शवाद में कोई स्थान दिया है। बुद्ध का कथन था कि हमें यह जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए कि हम किसके द्वारा निर्मित हुए हैं अथवा यह सृष्टि कहाँ से आयी है ? हमें अपने प्रत्यक्ष जीवन की कमियों को दूर करके निर्वाण का मार्ग खोजने की चेष्टा करनी चाहिए । इन सब बातों के लिए ईश्वर की शरण लेना कोई ज़रूरी नहीं है। उनका कथन था

१- दी० नि० १३. १. ७ भाग २ पृ० २००

२- ,, १३. २. ६ पृ० २०१

३- ,, १३. २. १२ पृ० २०२

कि मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा ही सुख दुःख भोगता है। जब कर्म ही सुख-दुःख का कारण है तो फिर सृष्टि-कर्तृत्व का किसी ईश्वर पर आरोपित कर उसे ही अपने दुःखों को उत्तरदायी क्यों ठहराया जाय ? बुद्ध का तो मत है कि तुम आज जहाँ हो वह अपने कर्म के ही कारण हो, तो फिर ईश्वर की निष्पत्ति अथवा उसकी मध्यस्थता की यहाँ क्या आवश्यकता है ?

शाश्वतवाद

भगवान् बुद्ध ने उपनिषदों में उल्लिखित 'ज्ञाण ज्ञाण परिवर्तनशील इस स्थूल जगत् की तरह मैं आत्मा नामक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे वे शाश्वतवाद के नाम से जानते थे सुलभ विरोध किया। उपनिषदों में इसी आत्मवाद को ब्रह्मवाद कहा गया है और वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित तथा आनन्द बताया गया है। इस आत्मवाद एवं ब्रह्मवाद का बुद्ध ने विरोध किया और कहा "संसार की सारी वस्तुयें अनित्य हैं। वस्तु का अस्तित्व अनित्य है। ऐसा मानने पर स्थूल जगत् और आन्तरिक सूक्ष्म जगत् दोनों ही क्षणिक हैं। वेदान्त के सत् अर्थात् नित्य को अनित्य, चित्त अर्थात् आत्मा को अनात्म और आनन्द अर्थात् सुख को दुःख कह कर बुद्ध ने एक नयी विचारधारा चलायी जो बाद में क्षणिकवाद कहलायी है।

दीघनिकाय के 'महापरिनिर्वाण सुत्त' में कहा गया है कि जो नित्य तथा स्थायी जान पड़ता है, वह भी नश्वर है, जो महान् दिखायी देता है उसका भी पतन है, जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है और जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु भी है। "संयुक्त निकाय में प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष बताये गये हैं। "प्रत्येक वस्तु है" एक पक्ष यह है और "प्रत्येक वस्तु नहीं है", यह दूसरा पक्ष है। ये दोनों पक्ष एकान्तिक हैं। बुद्ध ने इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया। उनका कहना है कि जीवन संभूति है,

भावरूप है। दुनियाँ की सभी वस्तुयें अनित्य धर्मों के संघात पर टिकी है। अतः वे अनित्य हैं। उनमें उत्पाद है स्थिति है और निरोध है। यही बुद्ध का अनित्यता का सिद्धान्त है।^१

यहाँ बता देना भी आवश्यक होगा कि भगवान् बुद्ध ने जिसे अनित्य कह कर फुकारा था उसी को बाद में बुद्ध के अनुयायियों ने क्षणिकवाद नाम दिया था। किन्तु बुद्ध का क्षणिकवाद से तात्पर्य वस्तुओं से नहीं चेतना से था क्योंकि शरीर तो बहुत समय तक एक सा ही रहता है। मन, बुद्धि या चेतना दिन रात बदलती रहती है।^२ जो वस्तु आज हमें पसन्द है, कुछ समय पश्चात् वह हमें बुरी भी लग सकती है। इस बात को बताने का बुद्ध का सम्भवतः यही तात्पर्य होगा कि शरीर, मन आदि आत्मा के रूप नहीं है। वे स्थायी भी नहीं हैं। वस्तुओं को जब अस्थायी कहा जाता है तो उससे तात्पर्य क्षणिकता से नहीं होता। बुद्ध जब मन के विषय में कहते हैं तो केवल उसी समय वे ज्वाला के दृष्टान्त का प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार एक दीपशिखा ज्वालाओं का समूह है, जिसमें एक ज्वाला क्षणमात्र के लिए ही रुकती है, ठीक उसी प्रकार की हमारी चेतना है। इस प्रक्रिया को जब अस्तित्वमात्र पर घटित होते देखा जाता है तो वही क्षणिकवाद कहलाता है।^३

त्रिपिटकों में बुद्ध ने जहाँ जहाँ संसार की शाश्व-
तिका तथा अशाश्वतिका का वर्णन किया है वह क्षणिकवाद की प्रक्रिया

१- दी० नि० ३, २३ महापरिनिर्वाण सुत्त

द्रष्टव्य- गैरोला- बौद्ध दर्शन पृ० १६०

२- स० नि० २, ६६ राधाकृष्णन के ग्रन्थ - भारतीय दर्शन में उद्धृत पृ० ३४३

३- द्रष्टव्य- राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन पृ० ३४३

के अनुकूल है। समस्त संसार की वस्तुयें ज्ञाण भर के लिए अपना स्वरूप बोध कराती हैं और शीघ्र अत्यन्त सूक्ष्म भाव से परिवर्तन को प्राप्त होजाती हैं। यह परिवर्तन-शीलता निरुद्ध हो सकती है कि नहीं इस प्रकार के प्रश्न जब उनके शिष्य पूछते थे तो भगवान् उनको अव्याक्त कह कर शान्त हो जाते थे , क्योंकि उनका कहना था कि यदि इन प्रश्नों के उत्तर मिल भी जायें तो भी बुद्धिपा आता है, मृत्यु होती है, शोक होता है, चिन्ता होती है, इसीलिए इसे हम अव्याक्त कहते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि बुद्ध अपने शिष्यों को लोक की शाश्वतिकता एवं अशाश्वतिकता के भ्रम में नहीं पड़ने देना चाहते थे, क्योंकि हो सकता है मनुष्य इस चक्कर में पड़कर निर्वाण एवं शान्ति का मार्ग खोइ दे ।

त्रिपिटकों में जहाँ जहाँ भगवान् बुद्ध ने संसार की शाश्वतिकता तथा अशाश्वतिकता का वर्णन किया है वह ज्ञाणिकवाद की प्रक्रिया के अनुकूल है। समस्त संसार की वस्तुयें ज्ञाण भर के लिए अपना स्वरूप बोध कराती हैं और यथा शीघ्र अत्यन्त सूक्ष्म भाव से परिवर्तन को प्राप्त हो जाती हैं। अतः इसका निरोध होता है कि नहीं ? इस प्रकार के प्रश्न बुद्ध से उनके शिष्यों ने किये । उनके एक शिष्य मालूक्यपुत्त ने कहा कि तथागत के द्वारा इन प्रश्नों का उत्तर न देना उचित नहीं है। तथागत या तो इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते अथवा जानकर नहीं बतलाते । भगवान् बुद्ध के निकट जाकर उसने कहा- ' यदि भगवान् मेरे प्रश्नों का समाधान नहीं करेंगे तो मैं उनकी निन्दा करूंगा । पूर्वनिश्चित प्रतिज्ञा के अनुसार वह भगवान् के निकट गया और उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मांगा । भगवान् ने कहा मालूक्यपुत्त इधर आओ, ब्रह्मचर्य का आचरण करो , मैं तुम्हें इन प्रश्नों के सम्बन्ध में बताऊंगा । भगवान्

से उसने प्रतिज्ञा की कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा । भगवान् बुद्ध ने उसे तीर से बिद्ध हुए की उपमा देकर बताया कि जैसे तीर से बिधा हुआ व्यक्ति किसी चिकित्सक के सम्मुख कहे कि मेरी चिकित्सा कीजिए । ऐसी अवस्था में चिकित्सक कहता है कि जब तक मैं यह न जान लूं कि यह मनुष्य कौन है, क्या नाम है इसका, वह तीर से बिधा हुआ है या कटार से कटा हुआ है। यदि वह व्यक्ति अज्ञात है तो मैं उसके तीर को कैसे निकालूं । ठीक उसी प्रकार जो मनुष्य मय रोग से ग्रस्त है, उसको यह संसार क्या है , कैसे बताया जाय ? इसीलिए मालूक्यपुत्त जैसे मैं अव्याक्त कहूँ उसे अव्याक्त ही रखो । लोक सम्बन्धी प्रश्न न ब्रह्मचर्य के योग्य हैं, न शान्ति के लिए न वैराग्य के लिए^१ । उक्त प्रश्नों के बारे में पुनः कहते हैं यदि उक्त प्रश्नों के उत्तर जान भी लिए जायें तो भी उनके जानने वाले के दुःखों का अन्त नहीं होगा, क्योंकि उक्त जन्म के बाद भी उसका जन्म होता है, बुढ़ापा आता है, मृत्यु होती है, उसे शोक होता है, चिन्ता होती है, इसीलिए इसे हम अव्याक्त कहते हैं^३ ।

विपिटक में अनेक उपदेशों में बुद्ध ने इस बात को दोहराया है कि संसार में कुछ भी नित्य नहीं है सभी का नाश होना है । अग्नि-वेश नामक भिक्षु को सम्बोधित करते हुए भगवान् कहते हैं- ' अग्निवेश यह काया चार महाभूतों से बनी है, माता पिता से उत्पन्न दाल, भात से वर्धित अनित्य उत्सादन (विनाश) परिमर्दन भेदन (= टूटना) एवं अनेक स्वभाव वाली

१- म० नि० १३. ४ , १३. २. ५ , १३. ३. ७

- बूल मालूक्य सुत्त पृ० १०८

२- म० नि० १३. ३. ७ -

न ह्येत मालूक्य पुत्त अत्थसहितं न आदि

ब्रह्मपरिचयं न निर्विवादय ----- ।

३- म० नि० १३. ३. ६ पृ० १११ भाग १

है (इसे मुक्ति रोग से ग्रस्त , फोड़ा फुन्सी इत्यादि के रूप में देखना चाहिए, अर्थात् उन्हें आत्मा नहीं समझना चाहिए । अग्निवेश । संसार में तीन प्रकार की वेदनायें होती हैं :

१- सुख वेदना

२- दुःख वेदना

३- अदुःख असुख वेदना

ये वेदनायें अनित्य , संस्कृत, किसी कारण से उत्पन्न एवं क्षाय स्वभाव वाली हैं । इन तीनों वेदनाओं से आर्य-श्रावक निर्वेद को प्राप्त हो विरक्त होता है, विराग को प्राप्त हो विमुक्त होता है, विमुक्त होने पर - " मैं विमुक्त हूँ यह ज्ञान होता है, " जन्म सत्त्व हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, अब यहाँ करने के लिए शेष नहीं है, यह जान लेता है। अग्निवेश । इस प्रकार विमुक्त चित्त भिद्यु न किसी के साथ संवाद करता है, न विवाद करता है, संसार में जो कुछ कहा गया है, आग्रह रहित हो उसी से (कथन) व्यवहार करता है ।

बुद्ध कहना चाहते थे कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह अवश्य क्षाय को प्राप्त होगी । जिस किसी का यहाँ कारण मौजूद है वह अवश्य नाश होगी । जो इस संसार में रूप लेकर आया है वह अपने अन्दर अवश्य विलयन का भाव लिए हुए है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ- " रूप अनित्य है जो अनित्य है वह दुःख है जो दुःख है वह अनात्म है। जो अनात्म है वह न मेरा है, न मेरी आत्मा है । इसे यथार्थतः ज्ञानपूर्वक देख लेना चाहिए । चित्त उपादान रहित है, आश्रयों से विरक्त और विमुक्त हो जाता है।

१- म० नि० २. ३. ४ दीघनखुत्त पृ० २६३ (हि० अ० धर्मरक्षित)

२- वही

३- स० नि० २१. १. ५. ८ भाग १ पृ० ३४२ (हि० अ० धर्मरक्षित)

संसार एवं वस्तुओं की नित्यता और अनित्यता
जैसे बुद्धोत्तर काल में चाणिकवाद का नाम दिया गया। उस पर राधाकृष्णन्
के निम्नलिखित विचार हैं-

“ पदार्थों का सारूप्य केवल निर्माण कार्य के
सातत्य का ही दूसरा नाम है। यद्यपि हमारे शरीर के तत्त्व एवं हमारी आत्माओं
की रचना में निरन्तर क्षण क्षण परिवर्तन होता रहता है, तो भी हम कहते
हैं यह पहले वाली वस्तु है। प्राणी पहले बच्चा, फिर लड़का, युवक, अर्धद एवं
वृद्ध सब एक ही हैं किन्तु इनकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। यह संसार
अनेक घटनाओं से मिलकर बना है जो सदा ही परिवर्तित होता रहता है, हर
क्षण में नया ही श्वास होता है और दूसरे क्षण में विनष्ट होता है, और
तुरन्त ही दूसरा घटना समूह उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। इस द्रुतगामी पूर्ण-
नुपश्क्रम के परिणामस्वरूप द्रष्टा धीरे में आकर विश्वास करने लगता है कि विश्व
की सत्ता स्थिर है। एक उपयोगी परम्परा के कारण हमें व्यक्ति को नाम व
रूप प्रदान करना होता है। नाम व रूप के सारूप्य से यह अनुमान नहीं किया जा
सकता कि उनकी आन्तरिक वास्तविकता में भी सारूप्य है। इसके अतिरिक्त हमें
स्वभावतः एक प्रकार की स्थिर कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु यह पृथक्करण
केवल विचारगत ही है। हम कहते हैं कि वर्षा हो रही है जबकि इस नाम की
कोई वस्तु नहीं है। गति के अनुरूप किसी वस्तु की सत्ता नहीं है कोई कर्ता नहीं
है केवल कर्म ही परिणति के अतिरिक्त और कुछ नहीं^१।

उपर्युक्त कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं
कि अनुभव ही सब कुछ है जिसका हमें ज्ञान होता है। निरोध उससे हट कर एक
विषय है। सदा चक्कर में डाल देने वाले विषय को ग्रहण करने के लिए प्रयत्न

करना निष्फल है और उसके लिए अपना समय नष्ट करना उचित नहीं। कर्म को यहां भी प्रधानता दी है। संसार के चक्कर में न पड़कर भगवान् भिद्युओं को कर्म-प्रतिशरण होने का ही उपदेश देते हैं।

संसार का निर्माण यथार्थ एवं पदार्थ निष्ठ है अथवा नहीं? बुद्ध की प्रधान प्रवृत्ति संसार को निरन्तर एक प्रवाह के रूप में प्रस्तुत करने की ओर है जो निःसृत अर्थात् स्वयं में अस्त है, एवं निर्जीवि अर्थात् आत्म विहीन है। बुद्ध एक ऐसे भिद्यु को जो इस प्रश्न के समाधान के लिए व्याकुल है कि मोक्ष के पश्चात् क्या रहता है, बतलाते हैं कि इस प्रश्न को इस प्रकार रखना चाहिए- कहां कब आगे की पृथ्वी नहीं है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, कहां जाकर लम्बा, चौड़ा, छोटा, अच्छा एवं बुरा सब एक में विलीन हो जाते हैं? कहां जाकर प्रमाता एवं प्रमेय पूर्ण रूप से निःशेष होकर विलुप्त हो जाते हैं? इसका उत्तर भगवान् देते हैं- "चेतना के कर्म विहीन हो जाने से एवं निःशेष हो जाने से सब कुछ विलुप्त हो जाता है। प्रमाता के ऊपर ही यह संसार स्थित है उसी के साथ वह प्रादुर्भूत होता है, एवं उसी में विलीन हो जाता है। सब वस्तुयें घटना-समूह से बंधी हैं। हमें नहीं पता जिन वस्तुओं का हम वर्णन कर रहे हैं वे हैं कि नहीं। संसार में कर्मों के आधार पर ही क्रियायें हो रही हैं। लाह्वीज का मत है कि सरल पदार्थ स्थायी होते हैं, और संयुक्त पदार्थों का विलीन हो जाना अवश्यम्भावी है। बौद्ध मत में यही बात पायी जाती है। वह आत्मा को एक संयुक्त पदार्थ मानता है और इसीलिए उसे विलयाधीन मानता है।

भगवान् बुद्ध केवल घटनाओं को ही स्वीकार करते हैं। वस्तुयें परिवर्तित होती हैं। संसार में सत् कुछ नहीं सब कुछ मात्रा-

क्रियमाण है । विश्व में आवश्यकता का शासन है । जबकि उपनिषदें कहती हैं कि समस्त संसार को बनाने के पीछे एक स्थिर तत्त्व है। वह परिवर्तन होने वाले विचारों को नहीं मानता ।

अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध कुछ ही बातों में वेद एवं उपनिषदों से असहमत रहे हैं वरना बहुत कुछ सामग्री उन्होंने वैदिक साहित्य से ग्रहण की । उन्होंने नाम, रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार का विरोध तो किया और बताया कि भिद्यु इन वस्तुओं की कामना नहीं करना चाहिए क्योंकि ये दुष्कर हैं । ये सारी वस्तुयें क्षाण भर के लिए हमारे सामने प्रकट हो रही हैं । पुनः क्षाण भर में विनाश को प्राप्त हो जायेंगी ।

000

१- डा० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन पृ० ३४५

चतुर्थ अध्याय

सुद्ध पै कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त

बुद्ध के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

- १- ईश्वर - अनीश्वरवाद
- २- कर्मवाद
- ३- आत्म-अनात्मवाद
- ४- चाणभगवाद

ईश्वर-अनीश्वरवाद

भगवान् बुद्ध ने सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त में ईश्वर को नहीं स्वीकार किया है। इस कारण बहुत से विद्वान् इन्हें नास्तिक मानते हैं।

बुद्ध से जब भी परमतत्त्व या आत्म तत्त्व के विषय में प्रश्न पूछे जाते थे तो वे मौन धारण कर लेते थे।

एक बार वाष्कलि कृष्णि बाध्य कृष्णि के पास गये और ब्रह्म के व्याख्यान के निमित्त उनसे बात की। उन्होंने उनसे ब्रह्म विषयक प्रश्न पूछे। इस पर बाध्य कृष्णि बिस्कुल मौन रहे। दूसरी बार भी मौन रहे। तीसरी बार पूछने पर भी उन पर कुछ असर नहीं हुआ। इस पर वाष्कलि ने पूछा महाराज। आप उत्तर क्यों नहीं देते? क्या मुझसे अपराध हो गया है? इस पर बाध्य कृष्णि ने उत्तर दिया- “ मैं आपके प्रश्नों का उत्तर बार बार दे रहा हूँ न मालूम आप क्यों नहीं समझते। ” इस पर वाष्कलि

ने कहा "आप तो बिस्कुल मौन हैं"। बाध्य कृष्ण बोले- "भद्र ! मौन ही आपके प्रश्नों का उत्तर है"। इस प्रकार परमार्थ के सम्बन्ध में प्राचीन वैदिक कृष्ण तक मौनावलम्बन को ही उपयुक्त समझते थे। संभवतः परमार्थ तत्त्व की अनि-र्वचनीयता के कारण ही भगवान् इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर मौन हो जाते थे।

भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार भगवान् बुद्ध नास्तिक नहीं थे। वे कर्मवादी थे न कि ईश्वरवादी। कर्मवाद के समकक्ष ईश्वरवाद उनकी दृष्टि में निरर्थक था। इस विषय में उनके मत की पुष्टि में कुछ तर्क प्रस्तुत किये गये हैं जो निम्नलिखित हैं -

१- बुद्ध ने शाश्वतवाद अशाश्वतवाद या ईश्वर-वाद के विषय में त्रिपिटक में कहीं भी ^{नहीं} कहा है।

२- उन्होंने किसी भी प्रकार की दैवी शक्ति को स्वीकार नहीं किया है।

३- ईश्वर या ब्रह्मा सृष्टि कर्ता नहीं हो सकता, यह बात बुद्ध ने त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर बताया है।

४- ईश्वर को कर्ता धर्ता मानने पर कर्म का सारा उत्तरदायित्व ईश्वर के सिर लग जायेगा और मनुष्य अच्छे कार्यों की ओर प्रवृत्त नहीं होगा।

५- बुद्ध का जब कथन है कि तुम जो आज हो वह

१- शक्तिर माध्व ३. २. १

- डा० सरला देवी - मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का
प्रभाव पृ० ६८

वह सब कर्मों के ही बदौलत है तो फिर अच्छे कर्मों का जिम्मेदार ईश्वर को ही क्यों माना जाय ?

इस प्रकार उनके मतों को फटने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध नास्तिक थे । ईश्वर को तो उन्होंने बादर दिया है किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर का कोई महत्त्व उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। ईश्वर यदि है तो भी अच्छा है नहीं है तो भी अच्छा है ।

उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने भी प्रायः बुद्ध के परमसत्त्व के विषय में मौन को निषेधात्मक रूप में देखा है। स्वयं नागसेन और आचार्य बुद्ध घोष तक बुद्ध के मन्तव्यों को उनके प्रकृत स्वरूप में नहीं देस सकते । अतः मूल त्रिपिटकों के आधार पर ही हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उन पर जो आरोप लगाये जाते हैं वे कहाँ तक सत्य हैं ?

बुद्ध ने उपनिषदों में प्रतिपादित परब्रह्म का कहीं भी संप्रन्दन नहीं किया है। 'कथावत्सु' में जहाँ भिन्न भिन्न विचारों पर विचार किया गया है, एक अपरिवर्तनशील सत्ता के प्रश्न का कहीं उल्लेख नहीं है। इससे संकेत मिलता है कि बुद्ध उपनिषदों की स्थिति को स्वीकार करते हैं। वाराणसी में दिया गया प्रसिद्ध उपदेश एक निरपेक्ष परमसत्ता के स्थायित्व की ओर प्रबल संकेत करता है। परमसत्ता का इस प्रकार का वर्णन कि वह न तो सत् है, न असत् है, न दोनों है और न उनमें से अन्यतम है, यह प्रकट करता है कि बुद्ध परमसत्ता का निषेध नहीं करते, किन्तु ईश्वर की यथार्थता को बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार इसलिए नहीं किया क्योंकि इसे तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । परमसत्ता इन्द्रियों

१- द्रष्टव्य- भरतसिंह उपाध्याय- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४१

२- डा० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन , भाग १ पृ० ६२६

द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है और न ही आनुभाविक कहीं भी अपनी सीमाओं के अन्दर उस परमसत्ता का प्रकाश करता है। बुद्ध के अनुसार इस प्रकार के वाद-विवाद रोग के समान है।

सृष्टि के उपादान में ईश्वर को कर्ता धर्ता न मानने के कई और कारण भी थे। जिसकी वजह से भगवान् ने उसका निषेध किया। उपनिषद् काल में ब्रह्म तो श्रेष्ठ था ही किन्तु साथ ही साथ अन्तरिक्ष के ज्योतिष्-पिण्ड एवं कितने ही भौतिक तत्त्व, पौधे, पशु, पर्वत तथा नदियों को भी देवता की सी मान्यता दी गयी थी। कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने देवताओं को संसार का प्रष्टा एवं समस्त संसार का शासक बना डाला और उनको यहाँ तक शक्ति दे दी थी कि वे मनुष्यों की नियति को भी अच्छा बुरा बना सकते थे। बुद्ध ने इस प्रवृत्ति को एक दम समाप्त करने का संकल्प किया। बुद्ध के अनुसार संसार का कोई आदि कारण है इस प्रकार का भाव हमारी नैतिक प्रगति में सहायक नहीं हो सकता। उपनिषद् युग की धारणा थी कि पाप और पुण्य का फल नरक एवं स्वर्ग में मिलता है। बुद्ध ने इन बातों का खुल कर विरोध किया और कहा कि पुण्य एवं सुख तथा पाप एवं दुःख स्वभावतः परस्पर सम्बद्ध हैं।

वास्तव में भगवान् का उद्देश्य एक ईश्वर सत्ता के स्थायित्व के निषेध करने का नहीं था। वे जनसाधारण में फैली हुई गलत धारणाओं को समाप्त करना चाहते थे। वे एक ब्रह्मा या ईश्वर को सृष्टि-निर्माता मानने को तैयार नहीं थे। किन्तु इस बात से यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि वे ईश्वर को नहीं मानते थे।

अनाथपिण्डक के साथ वार्तालाप करते समय बुद्ध ने उक्त प्रश्न पर इस प्रकार तर्क किया था- “यदि संसार को ईश्वर

ने बनाया होता तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा विनाश नहीं होना चाहिए था, न दुःख एवं विपत्ति ही होनी चाहिए थी ।^१

२- उचित अनुचित का भेद भी नहीं होना चाहिए, जबकि हमें मालूम है शुद्ध एवं अशुद्ध सब ईश्वर द्वारा ही होता है।

३- जब ईश्वर ही प्रेम, घृणा और अच्छे बुरे का जिम्मेदार है तो अच्छे कार्य भी करने से क्या लाभ ?

४- और यदि यह कहा जाय कि सुख दुःख का कारण कोई अन्य है तो ऐसी स्थिति में ऐसी भी एक वस्तु सामने आती है , जिसका कारण ईश्वर नहीं है, ऐसी अवस्था में सभी को अकारण क्यों न मान लिया जाय ?

इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर ही कर्ता है तो क्यों नहीं लोग श्रद्धा व आदर भाव से इसके आगे झुक जायें । उन्हें उसके आगे याचना करने की क्यों आवश्यकता होनी चाहिए और क्यों लोग एक से अधिक देवताओं की पूजा करें ?^२

इस प्रकार विवेक पूर्ण तर्क के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का विचार मिथ्या सिद्ध होता है। ' बोधिचर्यावितार ' में अनाथ-पिण्डक पूरुषात्ता है कि यदि संसार को ईश्वर ने बनाया नहीं तो क्या यह भी नहीं माना जा सकता कि यह समस्त संसार इस निरपेक्षा, परमसत्ता की ही

१- अ० नि० ६. १ , राधाकृष्णन्- भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ४१८ पर उद्धृत

२- डा० एस० राधाकृष्णन् , भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ४२१

अभिव्यक्ति है जो अनुपाधिक है, अशेष है किन्तु इस सब भासमान संसार की पृष्ठभूमि में है ? बुद्ध ने उत्तर दिया - " यदि निरपेक्षा परमसत्ता से तुम्हारा आशय ऐसी सत्ता से है जो इन सब ज्ञात पदार्थों के सम्बन्ध से परे है तो उसकी सत्ता को किसी भी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । हम कैसे जान सकते हैं कि ऐसा पदार्थ जिसका अन्य पदार्थों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, विद्यमान है ? विश्व, जैसा हम इसे समझते हैं, सम्बन्धों के द्वारा निर्मित व्यक्तीय है, असम्बद्ध कोई भी पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय नहीं है । जो स्वयं किसी के ऊपर निर्भर नहीं करता और किसी से सम्बद्ध नहीं है, वह उस विश्व को कैसे उत्पन्न कर सकता है, जहाँ सब पदार्थ अपनी स्थिति के लिए एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ? यदि निरपेक्षा परम तत्त्व भी अनेक हैं तो वे उन पदार्थों के कारण कैसे हो सकते हैं जो सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ? यदि निरपेक्षा परम तत्त्व सब पदार्थों में व्याप्त है और समस्त आकाश में भी व्याप्त है तो यह उसका निर्माता नहीं हो सकता क्योंकि फिर बनायी जाने के लिए कोई वस्तु पृथक् रूप में नहीं रह जाती । इसके अतिरिक्त यदि वह निरपेक्षा परम तत्त्व निर्गुण है तो उससे उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ भी गुणरहित होने चाहिए । किन्तु वस्तुतः वे हैं सब सगुण । इसलिए निरपेक्षा परम तत्त्व उनका कारण नहीं हो सकता । यदि उसे गुणों से भिन्न माना जाय तो वह निरन्तर उनका निर्माण करते हुए एवं अपने को उनके द्वारा व्यक्त करते हुए कैसे माना जा सकता है ? फिर यदि निरपेक्षा परम तत्त्व अपरिवर्तनशील है तो समस्त पदार्थ भी अपरिवर्तनशील होने चाहिए , क्योंकि कार्यस्वरूप में कारण से भिन्न नहीं हो सकता , किन्तु संसार के सब पदार्थ परिवर्तित एवं क्षीण होते हैं। तब फिर निरपेक्षा परम तत्त्व कैसे अपरिवर्तनशील हो सकता है ? इसके अतिरिक्त यदि निरपेक्षा सर्व पदार्थों में व्याप्त हैं तो फिर हमें कृत्कारा किस से पाना है, जो हम मोक्षा के लिए चेष्टा करें ? क्योंकि उस अवस्था में उक्त निरपेक्षा तत्त्व हमारे अपने ही अन्दर उपस्थित है और हमें उसके द्वारा बनाये गये सब दुःख बलेश को धैर्य के साथ सहन करना चाहिए ।

उपर्युक्त कथनों के आधार पर कुछ विद्वान् बुद्ध को नास्तिक समझते थे । किन्तु वास्तव में वह आस्तिक थे । हाँ इतना अवश्य है कि उन्होंने अपनी आस्तिकता को प्रकट नहीं होने दिया ।

कर्म और पुनर्जन्मवाद

बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास करते थे । उन्होंने स्वयं अपने पुनर्जन्मों को स्मरण किया और कर्म संचालित प्राणियों को नाना योनियों में आते जाते प्रत्यक्षा देखा था ।^१ जैसाकि इससे पहले भी कहा जा चुका है कि वैदिक युग में जो स्थान ब्रह्मा आदि को दिया गया था वही स्थान बुद्ध के युग में कर्म को दिया जाने लगा । वैदिक युग में कहा जाता था कि जो कुछ होता है ब्रह्मा आदि के उपदेश से ही होता है, क्योंकि वे ही संसार के कर्ता धर्ता हैं । बुद्ध के युग में कहा गया कि प्रत्येक कार्य कर्मों के आधार पर होता है। इस संसार की योजना में सम्पूर्णतया कर्म की ही प्रधानता है। बुद्ध को स्वयं प्राणियों के कर्मानुसार सुगति-दुर्गतियों में जाने का ज्ञान रहता था । वत्स गोत्र नामक परिव्राजक से उन्होंने कहा था वत्स । मैं जब चाहता हूँ अपने अनेक पूर्वजन्मों को स्मरण कर सकता हूँ । शरीर और नाम के सहित अपने अनेक पूर्वजन्मों को मैं स्मरण कर सकता हूँ । मैं जब चाहता हूँ अ-मानुष , विशुद्ध , दिव्य चक्षु से, मरते उत्पन्न होते नीच, ऊँच, सुवर्ण, दुर्वर्ण सुगत, दुर्गत , कर्मानुसार गति को प्राप्त प्राणियों को जानता हूँ । जिसका जैसा कर्म है वैसा उसका फल है। कोई प्राणी किसी दूसरे को सुख-दुःख देने वाला नहीं है। सदाचार से सुगति और असदाचार से दुर्गति प्राप्त होती है,^३ किसी व्यक्ति के चित्त को अपने चित्त से जानकर

१- वि० वि० (महावग्ग) बोधिराजकुमार सुत्त

२- म० नि० २. १. १ तेविज्जवच्छगीतसुत्त- अहं हि, वच्छ यादिव आङ्गुलमि
दिव्वे चवसुना विसुदेन अति ----- ।

३- म० नि० ४१. १ साल्लेय सुत्त

और उसके कर्मों का ज्ञान दृष्टि से प्रत्यक्ष करके जान जाते थे कि मरने के बाद वह शुभ या अशुभ योनि में उत्पन्न होगा।^१ इसीलिए बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने कहा- “ भिक्षुओं क्रोध को छोड़ो----- लोभ को छोड़ो ----- द्वेष को छोड़ो,^२ मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर इस आवागमन में नहीं आना पड़ेगा। कर्म के सिद्धान्त पर भगवान् बुद्ध का दृढ़ विश्वास था। उनका कथन था कि यदि सभी मनुष्यों को इस बात का ज्ञान हो जाय कि कर्म के अनुसार दुर्गति अथवा सुगति मिलती है तो वे बुरे कर्मों को छोड़कर अच्छे कर्म करने लग जायेंगे, किन्तु यह ज्ञान सबको होता ही नहीं है।

संसार में पुनः जन्म लेने का कारण हमारी अपनी तृष्णा है। तृष्णा के ही कारण मनुष्य बुरे कर्म करता है तथा मन में बुरे विचार लाता है। बुद्ध का कथन है कि बुरी बातों से यदि मस्तिष्क को बचा लिया जाय तो फिर मनुष्य का मन भी पवित्र हो जाता है। मनुष्य को प्रेम के साथ अपने वातावरण में रहना चाहिए। समाज में रहते हुए भी मनुष्य को अपनी वाणी एवं इन्द्रियों को अपने काबू में रक्खा चाहिए। मनुष्य अपनी कोशिशों से ही अपना भाग्य बनाता है। अच्छी कोशिशें मनुष्य को अच्छा जीवन प्रदान कर सकती हैं।^३ बुरे कर्म मनुष्य की आयु को ही कम नहीं करते उसकी धन सम्पत्ति को समाप्त करके उसे कंगाल बना देते हैं। कुछ मनुष्य बड़े क्रूर होते हैं वे मनुष्यों तक के रक्त के प्यास होते हैं। ऐसे व्यक्ति सबसे नीचे नरक लोक में जाते हैं। ऐसे लोग यदि मनुष्य की योनि में जन्म भी ले लें तो उनकी आयु बहुत कम होती है।^४ जन्म नहीं किन्तु कर्म ही प्रधान है। कर्म से ही ब्राह्मण

१- अ० नि० (इतिवृत्तक) १. २०. २० पठमचित्त सुत्त

२- अ० नि० (इतिवृत्तक, पाटिभोगवग्ग)

- भरतसिंह उपाध्याय के ग्रन्थ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन से

उद्धृत पृ० ४७६

३- बहादुर मल - द रिलीजन आफ बुद्ध सण्ड इट रिलीजन टू द उपनिषदिक

थाट- पृ० ११७

बनता है जन्म से नहीं। चाहे शूद्र हो या अन्य कोई प्राणी, यदि वह स्मृति प्रस्थान आदि की भावना करता है तो निर्वाण को साक्षात्कार करता है^१। कर्म मनुष्य - मनुष्य में भेद नहीं करता। बत्तीस महापुरुष लक्षण भी मनुष्य पूर्व जन्म के किये कर्मों के परिणाम स्वरूप पाता है^२। सारांश यह है कि विश्व की व्यवस्था में कर्म ही प्रधान है। इसलिए भगवान् ने कहा है 'कर्म प्रति शरण बनो।' कर्म की शरण लो, अन्य किसी की शरण मत लो। कर्म ही यहाँ तुम्हारा अपना है। बुद्ध की शरण में जाना ही कर्म की शरण में जाना है। जिसका कर्म अच्छा है वह बुद्ध के समीप है चाहे वह उनसे सौ योजन दूरी पर भी हो। जिसका कर्म बुरा है, वह बुद्ध से दूर है चाहे वह उनकी संघाटी के क्षोर को फड़ कर उनके पैरों के पीछे ही चल रहा हो^३।

कर्म एवं पुनर्जन्म के विषय में जो बातें उपनिषदों में मिलती हैं वही त्रिपिटकों में दोहरायी गयी हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उपनिषदों में आत्मा के प्राधान्य पर बल दिया गया है और कहा गया है कि आत्मा नित्य एवं स्थिर रहती है। उपनिषदों के अनुसार यदि व्यक्ति शुभ कर्म करता है तो उसकी आत्मा श्रेष्ठ योनि में उत्पन्न होती है। किन्तु बौद्धों में आत्मा को प्राधान्य न देकर कर्म को सर्वप्रधान माना गया है। इनके अनुसार पुनर्जन्म होता अवश्य है, किन्तु अगले जन्म में कोई दूसरी ही आत्मा शरीर में प्रवेश करती है क्योंकि आत्मा तो नित्य स्थिर रहने वाली वस्तु वहीं है। ऐसा कहने पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब आत्मा का दुबारा शरीर में प्रवेश नहीं होता तो कर्म करना बेकार ही होगा। व्यक्ति अपने कर्म से मुक्त

१- दी० नि० ३७ ३. ४ अग्गज्जसुत्त

२- ,, ३. ७ लक्खण सुत्त

३- अ० नि० (इतिवृत्तक) संघाटि सुत्त

हो जाता है इसकी उपमा राहुल सांकृत्यायन ने बौद्ध दर्शन के अनात्म के विषय में व्याख्या करने वाले नागसेन के निम्नलिखित उत्तर से दी है। नागसेन से राजा मिनान्दर आत्मा के न मानने पर किये गये भले बुरे कर्मों की जिम्मेदारी तथा उनके अनुसार परलोक में सुख दुःख कैसे होगा यह प्रश्न करते हैं-

“ मन्ते । कौन जन्म ग्रहण करता है ”

“ महाराज । नाम, विज्ञान और रूप ----

“ क्या यही नाम- रूप जन्म ग्रहण करता है ?

“ महाराज । यही नाम-रूप जन्म नहीं ग्रहण करता । मनुष्य इस नाम और रूप से पाप या पुण्य करता है, उस कर्म के अनुसार दूसरा नाम- रूप जन्म ग्रहण करता है । ”

“ मन्ते । तब तो पहला नाम और रूप अपने कर्मों से मुक्त हो गया ? ”

“ महाराज । यदि फिर भी जन्म ग्रहण नहीं करे तो मुक्त होगया, किन्तु क्योंकि वह जन्म ग्रहण करता है इसलिए मुक्त नहीं हुआ । ” उपमा देकर समझाइये ।

“ कोई आदमी किसी का आम चुरा ले । उसे आम का मालिक पकड़ कर राजा के पास ले जाय । राजन् । इसने मेरा आम चुराया है। इस पर चोर ऐसा कहे- “ नहीं मैंने इसके आम नहीं चुराये हैं (जो आम इसने लगाया था) वह दूसरा था और मैंने जो आम लिए हैं वे दूसरे हैं । अब महाराज बताइये उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ? ”

राजा- “ मिलनी चाहिए । ”

“ सो क्यों ? ”

“ मन्ते वह ऐसा भला कहे, किन्तु पहले आम को छोड़ दूसरे ही को चुराने के लिए उसे जहर सजा मिलनी चाहिए । ”

“ महाराज । इसी प्रकार मनुष्य इस नाम और रूप से पाप या पुण्य करता है। उन कर्मों से दूसरे नाम और रूप जन्म लेते हैं । इसलिए वह अपने कर्मों से मुक्त नहीं हुआ^१ । ”

नागसेन राजा को बताते हैं , “ राजन् ।

मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है वह एक अन्य, किन्तु द्वितीय (नामरूप) प्रथम (नाम रूप) में से ही निकलता है^२ । भदन्त नाग सेन की यह व्याख्या बुद्ध के मन्तव्य के सर्वथा अनुकूल है। भगवान् बुद्ध के समय में साति केवट्ट पुत्र नामक भिक्षु को यह मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई थी कि वही एक विज्ञान आवागमन करता है। इस पर भगवान् ने उसे समझाया था कि विज्ञान तो प्रतीत्यसमुत्पन्न है। चक्षुरादि के प्रत्यय से वह उत्पन्न होता है। वह तो भौतिक पदार्थों की अपेक्षा भी अधिक क्षणिक है^३ ।

वस्तुतः कर्मों के आधार पर ही इस संसार में मनुष्यों को फल मिलते हैं। देखा भी जाता है कि कुछ मनुष्य दीर्घायु होते हैं, कुछ अल्पायु और कुछ रोग से ग्रस्त । सब कर्मों के आधार पर ही देखने को मिलता है । यदि ऐसा न होता तो यह समझा जाता कि मनुष्यों के साथ घोर अन्याय हो रहा है। दुःख भोगने वाला यह अनुभव करता है कि वह अपने कर्मों का फलभोग रहा है और फिर सुख भोगने वाला भी अनुभव करता है कि वह

१- मिलिन्द प्रश्न २. २. ४ (अनुवाद ५७, ६०)

- राहुल सांकृत्यन^{यन} बौद्ध दर्शन पृ० ६८ पर उद्धृत

२- नि० प्र० (लक्षण पञ्ची)

३- स० नि० १२. ७ , भरतसिंह उपाध्याय , बौद्धदर्शन अन्य भारतीय दर्शन

पृ० ४८५ पर उद्धृत

अच्छे कर्म करो ताकि फिर वह सुख भोग के योग्य हो सके । जब एक पीड़ित शिष्य बुद्ध के पास फटे हुए माथे को लेकर और जख्मों से खून बहाता हुआ आया तो बुद्ध ने उससे कहा " इसे ऐसा ही रहने दो, हे अर्हत् । तुम अपने कर्मों के फल भोग रहे हो, जिसके लिए अन्यथा तुम्हें पापमोचन स्थान में शताब्दियां लग जातीं । " कर्म का विधान वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर एवं भविष्य जीवन की यथार्थता पर बल देता है। यह इस बात को मानता है कि पाप का फल पापी की सामाजिक स्थिति के ऊपर निर्भर करता है। यदि कोई दुर्बल मन वाला मनुष्य, जिसका नैतिक आचरण भी दुर्बल है, कोई बुरा काम करता है तो वह नरक में जाता है । यदि कोई सज्जन पुरुष कोई बुरा काम करता है तो वह इसी जीवन में थोड़ा सा दुःख पाकर ही बच सकता है। यह इस प्रकार है कि यदि कोई मनुष्य पानी के एक प्याले में नमक का एक ढेला डाल दे तो पानी नमकीन हो जायेगा और पीने योग्य नहीं रहेगा । किन्तु यदि उसको गंगा नदी में डाला जाय तो गंगा का पानी तिल मात्र भी दूषित नहीं होगा^१ ।

कर्म का इसी प्रकार का रूप इस्लाम धर्म में किस्मत कहलाता है। वहाँ कहा गया है कि " नेक कर्म करोगे तो इस लोक में एवं स्वर्गलोक दोनों में इसका फल मिलेगा । " यहाँ फल पाने के लिए कोई दूसरा या तीसरा जन्म नहीं है ।

यूनानी विद्वानों की सम्मति में नियति की अपरिवर्तन ऐसी है जो मनुष्य एवं देवताओं से भी ऊँची है और नियति में पुरुषार्थ अथवा प्रार्थना द्वारा कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । इसके विपरीत बौद्ध धर्म में पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१- द्रष्टव्य- डा० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन पृ० ४०५

२- अ० नि० २. १. १ कम्मकरण वग्गो भाग १

बुद्ध ने कर्म-स्वातन्त्र्य के विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है बल्कि उसे कल्पना का विषय बना दिया है। बुद्ध कर्म को यान्त्रिक नहीं अपितु ऐन्द्रिक मानते हैं। हमारी स्वयं की आत्मा एवं चेतना जो कुछ करने के लिए बाध्य करती है वही कर्म का रूप धारण कर लेती है। हम जो है उसको भी चेतना देखती है और जो कुछ हमने किया उसको भी आत्मा जानती है। कर्म का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि भूतकाल और वर्तमान काल के बीच में कुछ तारतम्य है और यह कि वर्तमानकाल भूतकाल के साथ अनुकूलता रखता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वर्तमान काल भूतकाल की ही उपज है। ^१ है पुरोहितों। यदि कोई कहता है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है तब ऐसी अवस्था में धार्मिक जीवन नहीं रह सकता, और न ही कोई अवसर दुःख के नाश के लिए मिलेगा। किन्तु है पुरोहितों। यदि कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुकूल ही पुरस्कार मिलता है तो उस अवस्था में धार्मिक जीवन की सम्भावना और दुःख के सर्वथा विनाश का अवसर प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार जीवन का चक्र चलता रहता है तथा जन्म का निर्णय कर्मों के आधार पर ही होता है। मनुष्य जब अपने कर्मों के पूरे फल पा लेता है, तभी ठीक अर्थों में उसकी मृत्यु होती है। यदि मनुष्य चाहे तो अपने भाग्य को उन्नत कर सकता है।

वैदिक धारणा का अनुसरण करते हुए बुद्ध दुरात्मा व्यक्तियों के लिए नरक एवं अन्य अपूर्ण व्यक्तियों के लिए पुनर्जन्म की व्यवस्था करते हैं। स्वर्ग की कल्पना को उन्होंने स्वीकार किया है। ^२ मृत्यु के पश्चात् शरीर के विलय हो जाने पर सुकृत आचरण वाले व्यक्ति का

१- देखिए- अ० नि० ३. ६६

जन्म स्वर्ग में किसी सुखी अवस्था में होता है^१। स्वर्ग में सुखी जीवन और नरक में दुःखी जीवन मनुष्य को भोगना होता है। स्वर्ग के विषय में त्रिपिटकों में उल्लेख मिलता है कि “स्वर्गवासियों को दिव्य विमानों की उपलब्धि होती है। उनको अच्छे अच्छे भोजन दिये जाते हैं। स्वर्ग कन्याएँ उनका स्वागत करती हैं।^२ नरक के विषय में बताया गया है कि वहाँ पर पापियों को जलते हुए शरीर से तप्त पृथ्वी पर चलाया जाता है और वे जलते हुए तनों से पीटे जाते हैं^३।

इस प्रकार प्रत्येक पहलू से बुद्ध ने इस बात पर बल दिया है कि पुण्य कर्म करने चाहिए इसी में सुख है। पुण्य कर्मों से पुनर्जन्म नहीं होता तथा निर्वाण प्राप्त हो जाता है। इससे मनुष्य का जीवन सफल होता है।

यह बताया जा चुका है कि बौद्धों में आत्मा के देहान्तर गमन का कोई स्थान नहीं है और न ही एक जीवन से दूसरे जीवन में आने का कोई विधान है। मनुष्य जब मर जाता है तो उसके शरीर का प्रत्येक अंग क्षिन्न भिन्न हो जाता है। पुनर्जन्म में आने वाला व्यक्ति वह नहीं होता जो मर गया था किन्तु दूसरा ही होता है। बौद्ध धर्म में केवल कर्मों की निरन्तरता रहती है। यहाँ बताया गया है कि पूर्वानुपर जीवन प्राकृतिक कारण-कार्य भाव की एक शृंखला से जुड़ा रहता है। शेष बचा कर्म एक नये व्यक्तित्व का निर्माण करता है जो अपने आप ऐसे जीवन की ओर आकर्षित हो जाता है जिसके कि वह योग्य है। यह भी कहा जाता है कि कर्म के सामर्थ्य के कारण मरते हुए मनुष्य की चेतना एक ऐसी शृंखला को उत्पन्न करती है जिसके साथ एक

१- उदान १. २४

२- निमि० जातक ६ पृ० १३२

३- निमि० जातक ६ पृ० ११६

सूक्ष्म शरीर भी सम्पृक्त रहता है जिसका अन्तिम भाग किसी न किसी गर्भाशय में जाकर अपना स्थान बना लेता है^१। किस गर्भ में उसे जाना है इसका उसे मरते समय पूरा ज्ञान होता है। नया जीवन उत्पन्न करते समय कर्मों का होना ही आवश्यक नहीं है अपितु उपादान का होना ही जरूरी है। क्योंकि जीवन एक प्रकार की सम्मिश्रित सत्ता है, इसलिए पृथक् पृथक् अवयव यदि एक साथ सम्मिश्रित न हों तो जीवन नहीं बन सकेगा। एक कार्यकारी शक्ति का रहना भी आवश्यक है जो भिन्न भिन्न अवयवों को एकत्र कर सके। इसी आकर्षण शक्ति से जिसे उपादान कहा जाता है एक नया सम्मिश्रण (जीव) तैयार होता है। बिना इसके कर्म भी कुछ नहीं कर सकता। कर्म एक सूचना देने वाला तत्त्व है जो अपने लिए उचित सामग्री की प्रतीक्षा करता है^२।

मरते समय मनुष्य के भीतर जो चेतना विद्यमान रहती है वह केवल कर्मों के बल पर ही रहती है। वे कर्म नये जीवन की मालकी दिखाते होंगे। इसी कारण अन्त समय तक व्यक्ति में चेतना विद्यमान रहती है। चेतना में अज्ञान एवं इच्छा विद्यमान रहती है। इस इच्छा के कारण ही चेतना का मुकाब नवीन जीवन की ओर करा दिया जाता है। फिर चेतना अपना स्थान छोड़ कर अन्य स्थान में प्रकाशित होती ही है और नहीं भी होती क्योंकि पहली चेतना अब नहीं रही। अतः कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति मर गया, संसार में नहीं रहा और परवर्ती चेतना क्योंकि नये जीवन में फिर से उत्पन्न होती है इसलिए उसे हम पुनर्जन्म कहने लगते हैं। किन्तु यह परवर्ती चेतना नये जीवन में पूर्व चेतना से नहीं आयी है। यह कर्म अथवा दामता एवं मुकाब (नया जीवन लेने की प्रवृत्ति) से ही वर्तमान जीवन में प्रकट हुई है^३।

१- प्लूसी - द वे टू निर्वाण पृ० ८३-८४

द्रष्टव्य- डा० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ४०६

२- उपरिचत्

३- बुद्धघोषा, विशुद्धिभाग, अध्याय १७

द्रष्टव्य- वारेन, बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन पृ० २३८, राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भाग पृ० ४१० पर उद्धृत

पांच गतियाँ

मरणोपरान्त जीव की गति के आधार पर लोकों का निर्माण निश्चित किया गया प्रतीत होता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार, मनुष्य अपने कर्मों के फलस्वरूप पांच प्रकार की गतियों को प्राप्त होते हैं। मार्ग प्रतिपदा तथा अन्य फलोपयोग के आधार पर अधोगति, ऊर्ध्व-गति और मध्य गति मिलती है। शरीरान्त होने पर भी ये गतियाँ प्राप्त होती हैं। पांच प्रकार की गतियाँ इस प्रकार हैं-

- १- नरक गति
- २- प्रेत गति
- ३- तिर्यक् गति
- ४- मनुष्य गति
- ५- देवगति

दुष्कर्मों के आधार पर तिर्यक्छान एवं प्रेत गति मिलती है और सुकर्मों के आधार पर मनुष्य गति मिलती है।

चार योनियाँ

उक्त पांच गतियों के सभी तत्त्व चार प्रकार से उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के प्रकार को योनि कहते हैं। चार योनियाँ निम्नलिखित हैं-

१- म० नि० १२, ६, १३ पृ० १०३

निरयं चाहं शारिपुत्त, पजानामि निरयं

गामिं चमगं परं मरणा सुगति लोक उपयज्जंति तं च

पजानामि ।

१- अण्डज - (हंस, कृच, शुक्र, सारिका)

आदि पक्षिगण अण्डे से उत्पन्न होने के कारण अण्डज कहलाते हैं ।

२- स्वेदज- (कृमि, कीट पतंगादि , जीव पृथ्वी) आदि महाभूतों से स्वेद से उत्पन्न होते हैं । अतः ये स्वेदज कहलाते हैं ।

३- उपपादक- देव नारक तथा अन्तराभव ऐसे सत्त्व हैं जो सकृत् उत्पन्न होते हैं जिनकी इन्द्रियां अविकल एवं अहीन होती हैं वे उपपादक कहलाते हैं ।

४- जरायुज - गाय, अश्व, शूकर, हाथी, मनुष्य आदि प्राणी माता की कुक्षि से जरायु से आवेष्टित उत्पन्न होते हैं। उनकी संज्ञा जरायुज है ।

मनुष्य एवं तिर्यकों की उत्पत्ति उक्त चारों प्रकारों से सम्भव है। अर्थात् मनुष्य एवं तिर्यकों की उत्पत्ति जरायुज स्वेदज तथा उपपादक प्रकारों में से किसी एक प्रकार से हो सकती है। प्रेतों को मनुष्य के समान जरायुज तथा देवताओं के समान उपपादक की माना जा सकता है।

संयुक्त निकाय के सुपर्ण- संयुक्तसुत्त में एक भिक्षु भगवान् बुद्ध से पूछता है- ' भगवन् । क्या हेतु है जिसके कारण कृक

१- म० नि० १२. द. १६ पृ० १०३

ये खो , सारिपुत्त सत्ता

अण्डकोस अभिनिबिम्बज्ज जायन्ति,

अयं वुल्लवति अण्डजः योनि ।

२- म० नि० १२. पृ. १२ पृ० १०३, १०४ भाग १

को नाग योनि एवं कुक्ष को गन्धर्व योनि में उत्पन्न होना पड़ता है। भगवान् ने कहा- “ भिक्षुओं अण्डज नाग से ऊपर के तीन नाग ऊँचे हैं। भिक्षुओं योनियाँ चार हैं। अण्डज और पिण्डज नाग से ऊपर के दो नाग ऊँचे हैं। अण्डज, पिण्डज और संस्वेदज नाग से औपपातिक नाग ऊँचा है। भिक्षुओं कुक्ष अण्डज नागों के मन में ऐसा होता है “ हम पहले शरीर से, वचन से और मन से पुण्य पाप करने वाले थे, इसलिए हम मरने के बाद अण्डज नाग योनि में उत्पन्न हुए। इसलिए अब हम शरीर वचन और मन से सदाचार करें जिससे मरने के बाद हम स्वर्ग में उत्पन्न होकर सुगति को प्राप्त करें। “

“ भिक्षु। कुक्ष लोग शरीर वचन और मन से पुण्य, पाप करने वाले होते हैं। वे सुनते हैं- अण्डज नाग दीर्घायु सुन्दर और सुखी होते हैं। अतः उनके मन में होता है , “ अरे। हम मरने के बाद अण्डज नागों में उत्पन्न हों। वे मरने के बाद अण्डज नागों में उत्पन्न होते हैं। “

इसके बाद आगे एक स्थान पर भिक्षु बुद्ध से बहुत से प्रश्न करता है। “ हे भगवन्। क्या कारण है कि कुक्ष लोग मर कर गन्धर्व काय देवों के बीच उत्पन्न होते हैं? “ भिक्षु। कोई वचन और मन से सदाचार करता है , वह कहीं सुन पाता है कि गन्धर्व कायिक देव दीर्घायु सुन्दर और सुखी होते हैं। तब उनके मन में ऐसा होता है कि मैं भी मरने के बाद गन्धर्व कायिक देवों में उत्पन्न होऊँ। वह ठीक मरने के बाद गन्धर्व कायिक देवों में उत्पन्न होता है। उसके मन में यह होता है अरे। मैं भी मरने के बाद मूल गन्धर्व में वास करने वालों के बीच देवों में उत्पन्न होऊँ। वह मूल गन्धर्वों का दान करता है। वह मरने के बाद मूल गन्धर्वों में वास करने वाले देवों के बीच उत्पन्न होता है।^१ “

१- स० नि० स्म. १ , स्म. ४. ६ , स्म. ७ , स्म. ८. १०

२- स० नि० ३०, १. २. ३. ४ पृ० ४८७ भाग ४

सृष्टि सम्बन्धी प्रक्रियाओं में जब चैतन्य की सृष्टि हुई तो विभिन्न प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति हुई और क्रमशः इन उपर्युक्त चारों योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव पाँचों प्रकार की गतियों को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त चार योनियों की सृष्टि सर्वप्रथम हुई, ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी इस प्रकार योनियों में भ्रमण करते हुए प्राणी गतियों को प्राप्त होते हैं^१।

इन पाँच प्रकार की गतियों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि लोक पाँच प्रकार के हैं। ये पाँच लोक हैं- मनुष्य लोक, प्रेत लोक, तिरच्छान लोक, नरक लोक एवं स्वर्ग लोक।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध वेदों तथा उपनिषदों के धर्म के अनुसार जन्मान्तर भी मानते हैं। किन्तु इनकी जन्मान्तर सम्बन्धी धारणा उपनिषदों से भिन्न है। बुद्ध के अनुसार "मृत्यु के अवसर पर व्यक्ति सम्बन्धी जितने स्कन्ध हैं वे सब वष्ट हो जाते हैं। किन्तु उस व्यक्ति के अपने जीवन काल में किये गये कर्म तुरन्त ही नये स्कन्धों को जन्म दे देते हैं जिससे तुरन्त ही नया जन्म प्राप्त हो जाता है। वह जन्म देवता का मनुष्य का, पशु का प्रेत का तथा नार्कीय भी हो सकता है।

व्यक्ति का जन्म कैसे होता है, इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म में कोई व्यापक व्यवस्था नहीं मिलती। 'मज्झिम निकाय' में अवश्य एक स्थल पर कहा गया है- किसी व्यक्ति का जन्म तीन कारणों से

होता है-

- १- माता पिता के संयोग से
- २- माता के नियमित समय तक गर्भ धारण करने पर
- ३- मात गर्भ में गन्धर्व के प्रवेश से ।

गन्धर्व शब्द त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर आया है। यहाँ देखना है कि गन्धर्व कौन है ? पहली दो बातें तो ब्राह्मण धर्म से साम्य रखती हैं । तीसरी बात (माता के गर्भ में गन्धर्व प्रवेश से) भी साम्य रखती है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ ब्राह्मण धर्म में जीव के प्रवेश की बात कही गयी है वहाँ बौद्ध धर्म में गन्धर्व के प्रवेश की । तो क्या गन्धर्व और जीव एक ही है ? वास्तव में बौद्ध धर्म और दर्शन के आधार पर दोनों में बड़ा भेद दिखायी पड़ता है। बौद्ध दर्शन में गन्धर्व के लिए अन्तिमावि का नाम भी दिया गया है। बौद्धों के एक सम्प्रदाय के अनुसार स्कन्धों के मरण भाव के पश्चात् एक अन्तिमावि उदय होता है । यह अन्तिमावि ही जीव भाव को जन्म देता है। यहाँ पर फिर प्रश्न उठ सकता है कि अन्तिमावि कैसे अपने अणु रूप जीव भाव को प्राप्त होता है ? बुद्ध का कहना है कि अन्तिमावि स्कन्धों के मरणभाव कर्मजन्य संस्कार उपलब्ध करता है और उन कर्मजन्य संस्कारों के अनुरूप ही यह जीवभाव या पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि कर्म का भगवान् ने उपदेश दिया और पुनर्जन्म को उन्होंने स्वीकार किया ।

आत्म- अनात्मवाद

तृतीय अध्याय में हमने यह बताने का प्रयास

१- म० नि० २, पृ६

२- सरला देवी- मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पृ० ३८२

किया गया था कि बुद्ध के ऊपर जो आत्मा सम्बन्धी आरोप लगाये जाते हैं, वे कहां तक सत्य हैं ? यहाँ इस बात को बताने की चेष्टा की जायेगी कि आत्मा- अनात्मवाद के उपदेश से बुद्ध का क्या तात्पर्य था ?

उपनिषदों में जिस आत्मवाद का विवेचन किया गया है उस की आलोचना करना बुद्ध का तात्पर्य नहीं था । उन्होंने उपनिषदों से हठकर अलग से अनात्मवाद के उपदेश दिये हैं त्रिपिटकों में जहाँ अनात्मवाद का वर्णन किया गया है वहाँ बताया गया है कि - “ क्योंकि यह सारा जगत् अनित्य भयावह और दुःस्कारी^१ है अतएव इसे अनात्म मानो । वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान सब अनित्य हैं । यहाँ अनात्म से तात्पर्य ‘ अस्तित्वविहीन ’ है ।

‘ अनात्मवाद का उपदेश बुद्ध ने भिक्षुओं में फैली हुई आत्मा और संसार सम्बन्धी भावनाओं को शान्त करने के लिए दिया । इसीलिए दुःख समुदय का मूल कारण तृष्णा का निरोध हो जाने से प्रतिसंस्था ज्ञान की उत्पत्ति बतायी है, पाँच स्कन्ध , १२ आयतन , १८ धातु इन ३६ धर्मों को तथागत ने अनात्म माना और इनमें मन को लगाने से रोका है ।

आत्मा के विषय में भगवान् बुद्ध का कथन है कि जो यह मानता है कि यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता है, अनुभवगम्य है ,

१- पटिसम्मिद्धामग्ग २ , १००, १०१

अनिच्चतो दुक्खो अनत्ततो

मनसिकरोतो श्राणो उप्पजति ।

२- अ० नि० १०, ६, ४ भाग ४ पृ० १८६

दुष्कर्मों का फल भोजता है, नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, यह उसका बाल धर्म है। इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए निम्न उपमा के द्वारा वे कहते हैं कि “^१ हे पीठपाद् । जो व्यक्ति जनपद कल्याणी को तो चाहता है पर उसके रूप, रंग, वर्ण , कद , निवास, नाम आदि को नहीं जानता, उसका आचरण जिस प्रकार प्रमादरहित और उपहासास्पद है उसी प्रकार आत्मा के गुण धर्म से अपरिचित यज्ञ यागादि करने वाले व्यक्ति का कथन भी निन्दा-स्पद होता है। अतः परिपूर्ण जानकारी के बिना किसी पदार्थ के विषय में कुछ कहना उचित नहीं है ।

उपनिषदों के युग में माना जाता था कि मनुष्य की यथार्थ आभा शरीर अथवा मानसिक जीवन से पृथक् है तो भी मानसिक एवं भौतिक या प्राकृतिक गुणों के संयोग से ही जीवात्मा की अभिव्यक्ति होती है । क्योंकि मनुष्य भी हर एक वस्तु की भाँति एक संयुक्त पदार्थ है । बौद्ध इसको संस्कार कहते हैं जो एक संगठन है। आत्मा में चाण चाण परिवर्तन होता रहता है। शरीर और मन दोनों में परिवर्तन होता है। वाराणसी के हृषि-पतन नामक स्थान में भगवान् ने भिक्षुओं को उपदेश दिया- “^२ यह शरीर नित्य आत्मा नहीं, क्योंकि यह नष्ट होने वाला है , और न ही रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आत्मा का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह कभी सम्भव न होता कि चेतना भी उसी तरह नाश की ओर प्रवृत्त होती है^२, क्योंकि रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये सब चाणिक हैं, और वह जो चाणिक है, परिवर्तनशील है नित्य आत्मा नहीं हो सकती । इसलिए जितना भी रूप है, चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान काल का , चाहे

१- दी० नि० ६. पृ. २२ भाग १ पृ० १६०

२- महावग्ग १. पृ. २१ पृ० १६ अनत्तपरियायसुत्त

मविष्यत काल का, चाहे अपने देहादि का, अथवा बाहर का, अन्दर का चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, चाहे बुरा हो अथवा भला, चाहे दूर हो या समीप वह सब रूप स्कन्ध के अन्तर्गत है। इन सबको अपना आत्मा नहीं समझना चाहिए। कारण एवं कार्य की शृंखला इस शरीर के साथ बंधी हुई है। मनुष्य पांच स्कन्धों से बना है। ये स्कन्ध जब नष्ट होने वाले हैं तो न आत्मा नित्य है न संसार नित्य है।

बुद्ध के कथनों से यह तो ज्ञात होता है कि कौन सी वस्तु आत्मा नहीं है, किन्तु आत्मा क्या है, इसका उन्होंने कहीं भी वर्णन नहीं किया। परन्तु यह धारणा जैसाकि बहुत से विद्वान् कहते हैं कि बुद्धआत्मा के विषय में कुछ नहीं जानते थे असत्य है। एक समय भिक्षु वच्चगोत्त ने बुद्ध से कहा- “ हे गौतम प्रकृति किस पर स्थित है, क्या आत्मा का स्थायित्व है, इस पर बुद्ध ने मौन धारणा कर लिया। तब परिव्राजक वच्चगोत्त अपने स्थान से उठा और चला गया। किन्तु भिक्षु आनन्द ने बुद्ध से कहा, “ हे गौतम अपने परिव्राजक वच्चगोत्त के प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं दिया ” तब बुद्ध ने कहा यदि मैं उत्तर देता कि आत्मा है, तो उससे उन श्रमणों एवं ब्राह्मणों के सिद्धान्तों का समर्थन होता जो स्थिरता में विश्वास रखते हैं। ” इस संवाद के विषय में ‘ओल्डन बर्ग’ कहता है, “ यदि बुद्ध आत्मा का निषेध करने से बचते हैं तो इसलिए कि एक दुर्बलात्मा श्रोता के मन में आघात न पहुँचे। आत्मा के अस्तित्व एवं निषेध सम्बन्धी प्रश्न से बचने के द्वारा यह उत्तर मिल गया कि आत्मा नहीं है क्योंकि बौद्ध उपदेशों में पूर्ववियव (प्रतिज्ञा) की प्रवृत्ति साधारणतः इधर की ओर ही है। डा० राधाकृष्णन् इस विचार से सहमत नहीं हैं कि बुद्ध ने जानबूझ कर सत्य को गुप्त रखा। यदि ओल्डनबर्ग

१- महावग्ग १. ८. २१ पृ० १७

२- ओल्डनबर्ग - बुद्ध पृ० २७३

का कहना सही माना जाय तो निर्वाण का अर्थ होगा शून्यता, जिसका सण्डन स्वयं बुद्ध करते हैं। निर्वाण द्रास होकर शून्य हो जाना नहीं है, किन्तु यह प्रवाह का निषेध है और आत्मा का अपने यथार्थ स्वरूप में लौट आना है।^१

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि तत्त्व स्वरूप कुछ स्वीकारा अवश्य गया है चाहे वह अनुभवगम्य आत्मा भले ही न हो। यही बात बुद्ध के इस कथन से भी प्रकट होती है कि आत्मा न तो वही है जो स्कन्ध है और न ही सर्वथा उससे भिन्न। यह केवल मन एवं शरीर का सम्मिश्रण नहीं है और न ही यह नित्य पदार्थ है जो कि परिवर्तन के विप्लवों से निर्मुक्त हो^२। 'संयुक्त निकाय' के 'पुद्गल पज्जतिसुत्त' में मार एवं मारवाही के विवाद के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि स्कन्ध जो मार स्थायी एवं पुद्गल जो मारवाही है दोनों भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं। यदि वे दोनों एक ही होते तो उनके बीच भेद करने की आवश्यकता न होती।^३ 'ह' भिक्षुओं। मैं तुम्हें मार एवं मारवाही का निर्देश करता हूँ, पाँचों अवस्थायें मार हैं और पुद्गल मारवाही है जो व्यक्ति समझता है कि आत्मा नहीं है, भूल में है^३। जन्म ग्रहण करने का तात्पर्य ही मार ग्रहण करना है एवं जीवन के परित्याग का तात्पर्य है आनन्द अथवा निर्वाण प्राप्त करना।

भगवान् ने त्रिपिटक में बार बार इस बात को दोहराया है कि संसार में जिस वस्तु को ग्रहण करने के लिए हम दिन रात पोरान रहते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, मार पीट करते हैं वे सब विपरिणाम धर्म हैं अवश्य बदलेंगे, उनका कोई वास्तविक स्वरूप नहीं, वे आत्मा

१- द्रष्टव्य- डा० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ३५५

२- वही

३- वही

नहीं है, अनात्म हैं। इस प्रकार सभी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों से निर्वाण प्राप्त करने के लिए बुद्ध ने अनुकम्पापूर्वक 'अनात्म' अथवा अनत्ता का उपदेश दिया है और यही उसकी सीमा है।

भगवान् का कथन है कि अनात्म का ज्ञान होने के बाद मनुष्य को सभी धर्म ठीक प्रकार से दिखायी देने लगते हैं^१। यह भी कहा गया है कि अनित्य को देखने से मनुष्य का मान नष्ट होता है, दुःख को देखने से उसकी इच्छाओं की शुद्धि होती है और अनात्म को देखने से उसकी दृष्टि सम्बन्धी आसक्ति दूर होती है^२। अनात्म का चिन्तन करते करते मनुष्य को यह संसार शून्य ग्राम के समान मृगमरीचिका के समान, गन्धर्व नगर के के समान रिक्त तुच्छ एवं शून्य लगने लगता है और वह सम्पूर्ण भ्रम में भय देखकर उससे विरक्त हो जाता है^३।

अनात्मवाद का व्यवस्थित रूप में वर्णन, पालि निकायों में नहीं मिलता। जब कभी बुद्ध ने चार आर्य सत्यों, प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों की नित्यता तथा अनित्यता का उपदेश दिया तभी उन्होंने कुछ कुछ अनात्मवाद के विषय में भी कहा है। उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है कि यह समस्त संसार जो रूपवान् दिखता है इसके फन्दे में पड़कर मनुष्य दुःख भोगता है, इस लिए दुःख को क्यों मोल लिया जाय, वह विपरिणाम धर्मा है।

भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद के उपदेश का तात्पर्य यह था कि भिक्षुओं को ज्ञात हो जाय कि भव अनित्य है। इसमें अपना मन न लगाया जाय और निर्वाण का मार्ग ढूँढा जाय।

१- पटिसम्भिमदा मग्ग २. ६२, ६३

२- पटिसम्भिमदा मग्ग, विशुद्धि मग्ग २०. १०६ में उद्धृत

३- पटिसम्भिमदा मग्ग २. ६२, विशुद्धि मग्ग २१. ३४ में उद्धृत

आत्म- अनात्म सम्बन्धी विषयों के मतभेदों में पढ़ने से बुद्ध भिक्षुओं को मना करते थे । कुछ विद्वानों का कथन है कि बुद्ध का आत्म- अनात्म विषय पर वाद- विवाद करने पर शान्त हो जाना उनका आत्मा सम्बन्धी जानकारी न होने का प्रमाण है।

कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि बुद्ध का अनात्मवाद के उपदेश से तात्पर्य उपनिषदों की आत्मा के सण्डन करने से था, सम्पूर्ण त्रिपिटक को पढ़ने के उपरान्त कोई यह नहीं कह सकता कि बुद्ध ने कहा हो कि " आत्मा नहीं है । "

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मवाद का रहस्य समझाते हुए कहते हैं- " जिस प्रकार नमक की डेली पानी में डालते पर घुल जाती है और निकाली नहीं जा सकती वह सम्पूर्ण जल को लवण रसमय बना देती है, इसी प्रकार यह आत्मा जो अनन्त असीम, पूर्ण, प्रज्ञान धन है वह भूतों से उठकर इन भूतों में ही विनष्ट हो जाती है । मरकर (प्रत्य) संज्ञा नहीं है यह मैं कहता हूँ । " मैत्रेयी इससे भयभीत हुई । भगवान् ने मुझे मोह में डाल दिया । मैं इसे नहीं समझ सकी । " याज्ञवल्क्य आगे समझाते हैं - " अरे । मैं मोह की बात नहीं कहता । अविनाशी है , यह आत्मा । उच्छिन्न होने वाला यह नहीं है। जहाँ द्वैत है वहाँ एक दूसरे को सूँघता , चूँका , बोला , सुनता , गमन करता विभाजन करता है । लेकिन जहाँ सब उसका आत्मा ही है, वहाँ किससे किसको देखें ? वहाँ किससे किसको विभाजन करें ? तो यह नेति नेति आत्मा अगृह्य है, असंग है। मैत्रेयी यह भी सबका ज्ञाता है, इसे किससे जाना जाय ? यह मैत्रेयी तुमको आत्मा के विषय में जानकारी दी गयी । इतना ही अमृतत्व है । " इतना कह कर याज्ञवल्क्य चल दिये । याज्ञवल्क्य यह नहीं कहना चाहते कि आत्मा उच्छिन्न

होने वाला है किन्तु उनको कहना पड़ता है कि मरने के बाद संज्ञा नहीं है। केवल कहने के ढंग का यहाँ अन्तर है। भाषा तो द्वैतमयी है किन्तु विचार अद्वैत। वह अद्वैत को ठीक ठीक अभिव्यक्त नहीं कर पाये अतः उन्होंने नैति नैति के द्वारा संकेतित किया। जहाँ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को सम्मत्ता कर चल देते हैं वहाँ भगवान् बुद्ध का कार्य प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त उद्धरण उपनिषदों के आत्म-ज्ञान का अन्तिम दार्शनिक दृष्टांत है और भगवान् बुद्ध के आगमन का बिन्दु।

यहाँ याज्ञवल्क्य ने भी आत्मा की संज्ञा का निषेध माना है। आत्मा अनिर्वचनीय और अनुपदेशनीय है। इसका वर्णन प्रकारान्तर से भगवान् ने किया है।

नागार्जुन 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' पर की गई टीका में कहते हैं- "तथागत कभी तो उपदेश देते थे कि आत्मा का अस्तित्व है और कभी ऐसा भी कहते थे कि नहीं है। जब उन्होंने यह उपदेश दिया कि आत्मा का अस्तित्व है और उसे क्रमानुसार वर्तमान एवं भविष्य जन्मों में अपने कर्मों के अनुसार दुःख एवं सुख का फलोपभोग करना है तो इसका उद्देश्य जनता को उच्छेदवाद की नास्तिकता के गड्ढे में गिरने से बचाना होता था। और जब वे यह उपदेश देते थे कि आत्मा नहीं है इन अर्थों में उसे प्रष्टा व द्रष्टा अथवा एक नितान्त स्वतन्त्र कर्ता, पाँचों स्कन्धों के पुंज को जो परम्परागत नाम दिया गया है उसके अतिरिक्त माना जाय, तो उस समय उनका उद्देश्य होता था कि जनता को उसके प्रतिपक्षी शाश्वतवाद सम्बन्धी नास्तिकता के गड्ढे में गिरने से बचाया जा सके। फिर इन दोनों में कौन सा मत सत्य है? कहा जा सकता है कि आत्मा के निषेध का सिद्धान्त। यह सिद्धान्त आसानी

से समझ में आने योग्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के सिद्धान्त को सुन कर वह निश्चित रूप से उच्छेदवाद की नास्तिकता में फँस जाते। बुद्ध ने दोनों भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का उपदेश दो भिन्न भिन्न उपदेशों को लक्ष्य करके दिया। उन्होंने भिक्षुओं को आत्मा के अस्तित्व का उपदेश दिया जबकि वे उन्हें परम्परागत सिद्धान्त का उपदेश देना चाहते थे और अनात्म का उपदेश दिया जबकि वे अतीन्द्रिय सिद्धान्त उन्हें देना चाहते थे।

भगवान् बुद्ध का मुख्य उद्देश्य इस संसार को तिर कर पार करना था न कि उसके आदि एवं अन्त, आत्म- अनात्म के भगदों में पड़ना या जानकारी प्राप्त करना। इसी कारण जब कोई उनका शिष्य आत्मा तथा संसार के विषय में जानना चाहता था तो वे मौन धारण कर लेते थे। ऐसे प्रश्नों को 'अव्याकृत' के नाम से जाना जाता है जिनकी गिनती १० बतायी गयी है -

- १- लोक शाश्वत है
- २- या लोक अशाश्वत
- ३- लोक अन्तवान् है
- ४- या अनन्तवान्
- ५- जीव शरीर एक है
- ६- या जीव शरीर दूसरा है
- ७- मरने के बाद तथागत होते हैं
- ८- या मरने के बाद तथागत नहीं होते
- ९- मरने के बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी

होते।

१०- मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते ।

इस प्रकार के प्रश्न जब भिक्षु भगवान् से करते थे तो वे उन्हें अव्याक्त कह कर मौन हो जाते थे । अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक बार उन्होंने कहा था , हे भिक्षुओं । जैसे किसी मनुष्य के विष से भरा तीर लगा हो, और उसके बन्धु उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जायें , लेकिन वह कहे मैं जब तक तीर नहीं निकालूंगा जब तक यह पता न लग जाय कि किस आदमी ने तीर मारा, वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है या शूद्र एवं जब तक कि यह न जान लूँ कि तीर मारने वाले का अमुक नाम तथा गौत्र है अथवा वह लम्बा है, बड़ा है या छोटा तो हे भिक्षुओं । उस आदमी को इसका पता लगेगा ही नहीं और वह मर जायगा ।^१

उपर्युक्त दृष्टान्त द्वारा तथागत ने यह व्यंजित किया है कि यदि मनुष्य आत्मा, जीव, ब्रह्म आदि के अनावश्यक प्रश्नों में उलझ जायगा तो इस छोटे से जीवन में भव रोग का इलाज असम्भव हो जायेगा ।

इस प्रकार अनात्मवाद का उपदेश भगवान् ने केवल विशुद्धि के लिए किया था ऐसा प्रतीत होता है।

ज्ञानभगवाद

तृतीय अध्याय में यह बताने का प्रयास किया गया था कि बुद्ध ने वैदिक धर्म के प्रचलित शाश्वत की आलोचना की और कहा कि कोई वस्तु नित्य नहीं है। उनका यह सिद्धान्त अनित्यवाद के नाम से प्रसिद्ध

है। यह अनित्यवाद ही बुद्ध के बाद चाणिकवाद के रूप में परिवर्तित हो गया था। अतः यहाँ बताया जायेगा कि नित्य अनित्य वाद या चाणिकवाद से बुद्ध का क्या तात्पर्य था ?

भव अनित्य, दुःस और अनात्म है, यह उपदेश बुद्ध के थे। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इन तीन लक्षणों से मरी न हो। तथागत का उपदेश था चाहे बुद्ध उत्पन्न हों न हों यह सिद्धान्त नहीं बदला जा सकता। त्रिपिटक में बुद्ध ने अनेक बार इस बात को दोहराया है, सम्पूर्ण भव अनित्य, दुःस और परिवर्तनशील है।^१

बुद्ध का चाणिक वाद या अनित्यवाद से यह तात्पर्य था कि मनुष्य को इस बात की जानकारी हो जाय कि उसका जीवन कुछ क्षणों की सम्पत्ति है। इस क्षण को अच्छी बातों में लगाओ। बीत समय वापस नहीं आता। थेरी गाथा में एक स्थल पर कहा गया है "देख तेरा क्षण निकल न जाय।"^२ बुद्ध का उपदेश था कि इस संसार को पानी के बुलबुले के समान देखो, मृगमरीचिका की तरह समझो तो फिर मृत्युराज तुम्हें नहीं देखेगा।^३ इस प्रकार अनित्यता का उपदेश देकर बुद्ध मनुष्य को जागृत करना चाहते थे। अनित्यता के ज्ञान से मनुष्य जीवन के अवश्यभावी दुःस को स्मरण करता है, उसे निर्वेद प्राप्त होता है और उसके चित्त का सुकाव विशुद्धि की ओर होता है। इसीलिए धम्मपद में कहा गया है-

"सब संस्कार अनित्य हैं, यह जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है तो वह दुःसों में निर्वेद प्राप्त करता है, यही मार्ग विशुद्धि का है।"^४

१- अ० नि० १. १८. ११ पृ० ४१ भाग १

सब्बे भवा ऋ अनिच्चा दुक्खा विपरिणामधम्मा ।

२- थेरीगाथा - गाथा ५

३- धम्मपद १३. १७० पृ० ३३

भगवान् बुद्ध ने अनित्यता या भव की जाणिकता की बात कही, तो उनका प्रयोजन इतना ही था । किन्तु बुद्ध ने जाणिक वाद का नियम 'निब्बाणा' के सम्बन्ध में लागू नहीं किया था । भव तक ही उसे उन्होंने सीमित रखा था और भव का निरोध निर्वाण में हो जाता है। निब्बाण को उन्होंने अच्युत कहा था, ध्रुव कहा था, अविनाशी कहा था, अमृत कहा था । अतः वहाँ अनित्यता कैसे आयेगी ? भगवान् के ही अनुसार जो अनित्य है, वह अवश्यम्भावी रूप से दुःख है, परन्तु 'निब्बाणा' तो अत्यन्त सुख है, व दुःख के ठीक के विपरीत है। तो फिर उसे अनित्य कहना कहाँ तक ठीक होगा ? जाणिक तो संस्कार है, जो व्ययधर्मा है । परन्तु निब्बाणा तो असंस्कृता धातु है, वह तो संस्कार नहीं है। वहाँ जाणिकता नहीं आ सकती । वह तो अविनाशी पद है ।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अनित्यवाद का उपदेश मनुष्य में अहं भाव को समाप्त करने के लिए दिया था । मनुष्य के दुःख को समाप्त करने के लिए ही उन्होंने यह उपदेश दिया था । परमार्थ सत्य के रूप में उसका उपदेश भगवान् ने नहीं दिया था, क्योंकि वह निब्बाणा पर लागू नहीं है।

बुद्ध का कथन है कि यदि मनुष्य को संसार की वास्तविकता का ज्ञान हो जाय तो वह नित्य- अनित्य के बन्धन में नहीं पड़ सकता । इसे यथार्थतः ज्ञानपूर्वक देख लेने से वह पूर्वान्ति की मिथ्या दृष्टि में नहीं पड़ता है। पूर्वान्ति की मिथ्या दृष्टि में न पड़ने से उसे अपरान्त की भी मिथ्या - दृष्टियाँ नहीं होती हैं। अपरान्त की मिथ्या दृष्टि नहीं होने से वह कहीं नहीं मुक्तता है। वह रूप विज्ञान के प्रति आस्रवों से विरक्त, विमुक्त तथा उपादान रहित हो जाता है। उसका चित्त विमुक्त हो जाने से स्थिर हो

जाता है, स्थिर हो जाने से शान्त हो जाता है, शान्त हो जाने से त्रास नहीं होता है, त्रास नहीं होने से अपने भीतर ही भीतर निर्वाण पा लेता है, जाति क्षीण हुई ऐसा जान लेता है ।

अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध अपने अनुयायियों को यह बता देना चाहते थे कि संसार में कुछ सत्य नहीं है। उनका कथन है जिसकी उत्पत्ति है वह अपने अन्दर विलीन भाव को अवश्य लिए है। बुद्ध का मुख्य उद्देश्य भिक्षुओं के मन में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करना था । बुद्ध के अनुसार यदि मनुष्य संसार की सुन्दर वस्तुओं को नित्य समझने लगेंगे तो इन वस्तुओं के प्रति इनका मोह बढ़ जायेगा और संसार से विमुक्ति अर्थात् निर्वाण की कामना समाप्त हो जायेगी । इसी उद्देश्य से बुद्ध ने अनित्यवाद के उपदेश अनेक स्थलों पर भिक्षुओं को दिए ।

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत यह बताने का प्रयास किया है कि आत्म- अनात्मवाद, ईश्वर- अनीश्वरवाद , अनित्यवाद के उप-देशों से बुद्ध का क्या तात्पर्य था । किन परिस्थितियों में बुद्ध ने उक्त प्रकार के उपदेश दिये । ईश्वर- अनीश्वरवाद के विषय में बताया गया है, बुद्ध को बहुत से विद्वान् नास्तिक मानते हैं अर्थात् वह ईश्वर को नहीं मानते थे । मेरी दृष्टि में बुद्ध नास्तिक नहीं थे । सृष्टि की उत्पत्ति में वे ईश्वर को स्थान नहीं देते तो इसका तात्पर्य यह तो नहीं है कि वे ईश्वर को नहीं मानते । तथागत के सिद्धान्तों में तर्क अधिक प्रस्तुत किये गये हैं । वे बना तर्क के कोई बात नहीं कहते । क्योंकि ईश्वर के स्वरूप को दिखाया नहीं जा सकता । इसलिए वे ईश्वर की सृष्टि निर्माता के रूप में स्वीकार नहीं करते । वे कहते हैं हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर हम कह सकें कि सृष्टि की उत्पत्ति आत्मा द्वारा हुई है।

इस संसार के जीवन चक्र में कर्म को बौद्ध दर्शन में विशेष महत्त्व दिया गया है। कर्मों के अनुसार ही मनुष्य इस संसार में सुख-दुःख भोगते हैं ।

आत्म अनात्म के विषय में जो मिथ्या धारणाएँ हैं उसको भी इस अध्याय में बताने का प्रयास किया है और बताया गया है कि अनात्मवाद के उपदेश से बुद्ध का क्या तात्पर्य था ।

वस्तुओं के सम्बन्ध में बुद्ध का कथन है कि कोई वस्तु ऐसी नहीं जो नित्य हो । जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश है। भिक्षुओं को संसार से विमुक्ति दिलाने के लिए ही बुद्ध ने अनित्यवाद के सिद्धान्त का उपदेश दिया ।

अतः कहा जा सकता है कि इन चारों सिद्धान्तों का उपदेश बुद्ध ने भिक्षुओं को इसलिए दिया ताकि संसार की वास्तविकता को समझ जायें और निर्वाण की ओर अग्रसर हों ।

पंचम अध्याय

बुद्ध के उत्तुल्लार सृष्टि प्रक्रिया

बुद्ध के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया

सृष्टि शब्द का अर्थ

सृष्टि शब्द का अर्थ है संसार की रचना । जीवन मरण परम्परा को संसार कहते हैं । इस संसार में रहकर ही मनुष्य सुख दुःख सहता है। इस संसार की गतिशीलता में कोई परिवर्तन नहीं होता । मिलिन्द प्रश्न में नागसेन ने कहा है यहाँ उत्पन्न होकर यहीं मरना, यहीं मर कर अन्यत्र उत्पन्न होना ही संसार है ।

संसार का पर्यायवाची शब्द लोक है। लोक-शब्द की व्युत्पत्ति लुज् धातु से की गयी है जिसका अर्थ है उखड़ जाना । जैसे नदी की धारा में बहता हुआ मनुष्य पानी के ऊपर तैरता हुआ घास के पत्तों को फाड़ कर बचना चाहे और घास फाड़ते ही उखड़ जाय वैसे ही मनुष्य लोक के फाँटों को प्राप्त कर के शान्ति लाभ करना चाहता है किन्तु वे नष्ट हो जाते हैं और वह दुःख प्राप्त करता है।

त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर कहा गया है कि स्कन्ध , आयतन और धातुओं की प्रवर्तित परिपाटी का नाम ही संसार है जिसमें अनात्म की भावना करनी चाहिये ।

संयुक्त निकाय के 'लोकपञ्चासुत्त' में भगवान् बुद्ध से मिच्छाजों ने पूछा , 'भगवान् । लोक किसको कहते हैं । इसकी व्यु-

त्पत्ति करते हुए बुद्ध ने कहा- “ लुप्पति ति लोको ति वुच्चति ” । हे भिक्षुओं । चक्षु रूप, चक्षु विज्ञान और चक्षु स्पर्श तथा चक्षु से उत्पन्न सुख वेदना, दुःख वेदना और उपेक्षा वेदनायें होती हैं । इसीलिए इसको “ लोक ” कहते हैं। इस सुत्त में निर्दिष्ट व्युत्पत्ति से यह निश्चित है कि समस्त संसार एवं रूपान् फलार्थ जो दृश्यमान हैं, स्पृश्य हैं एवं सुख दुःखादि मानसिक वेदनाओं के स्पर्श से जो अनुभूतियाँ होती हैं उन सभी से यह संसार सम्पन्न है, अर्थात् यह संसार वाह्य एवं आध्यात्मिक तत्त्वों से बना है।^१

संयुक्त निकाय में बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि यह संसार प्रमाण रहित है । इसके न तो पूर्व का ज्ञान होता है न उत्तर का ज्ञान होता है-

“ अन्तर्हंगोयं भिक्खवे संसारो पुब्बा कोटिं न पञ्चायति^२ । ”

“ भिक्षुओं । यह संसार अज्ञात है, इसकी पूर्व कोटि का भी किसी को ज्ञान नहीं है।

इस संसार के सम्बन्ध में सोचना उपयुक्त नहीं है जब इसके आदि और अन्त का ज्ञान नहीं तो इसकी निर्माण प्रक्रिया का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है।

सृष्टि उत्पत्ति विचार

बुद्ध पूर्व परम्परा में इस संसार की रचना पाँच तत्त्वों से मानी गयी है- धाति, जल, पावक, वायु एवं आकाश । बौद्ध दर्शन

१- स० नि० ३५, ८२, ८३ भाग ४

२- म० नि० १, १, ४, २०, ०, १० भाग ३ पृ० १६३, ६५

में केवल चार तत्त्वों को स्वीकार किया गया है- वे हैं- पृथ्वी, अप, तेज, वायु । बौद्ध दर्शन में इन्हीं तत्त्वों से इस संसार को निर्मित माना है । किन्तु चार तत्त्वों से निर्मित जो संसार है वह भौतिक संसार है आध्यात्मिक नहीं । बाह्य जगत् की रचना इन्हीं भौतिक तत्त्वों पर आधारित है। आन्तरिक जगत् से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

चार महाभूत

त्रिपिटक में उल्लेख है कि यह संसार चार महाभूतों (पृथ्वी, अप, तेज, वायु) से निर्मित है। इन महाभूतों के बिना पृथ्वी मात्र कुछ नहीं हो सकती ।

जगत् नाम रूपात्मक है । सर्वप्रथम इन्हीं की सृष्टि हुई । वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श एवं संस्कार को नाम कहते हैं । रूप का अर्थ है वह धर्म जो रूप धारण करे । चार महाभूत ही रूप कहलाते हैं । संयुक्त निकाय में कहा गया है- “ चार महाभूत और उनसे उत्पन्न होने वाले रूप, मिश्रणों इसी को रूप कहते हैं । ”

इन महाभूतों के विषय में बताया गया है कि ये महाभूत नयी आकृति प्रदान करने में, माता पिता के सम्पर्क से प्राप्त होते हैं । इन चार धातुओं को अनेक कलापों का संज्ञात होने पर मांस, अस्थि आदि संस्थानों का उत्पाद होता है और वे प्राकृत चक्षु द्वारा देखे जा सकते हैं । उन मांस, अस्थि आदि चार महाभूतों के समूह का उत्पाद होने के लिए पूर्व कर्मों द्वारा निर्माण किया जाने से मनुष्य नामक रूपी द्रव्य उत्पन्न होता है। एक

१- स० नि० २२, ५७, ६० भाग २ पृ० २६१

घ० स० २ क, ८४, भाग १ पृ० १४७

एक कलाप में विद्यमान चारों महाभूतों में परस्पर सम्मिश्रण न होने देने के लिए आकाश धातु बीच में परिच्छेदक के रूप में विद्यमान रहती है। उन रूप कलापों में बैठने - उठने , जाने जाने सोने आदि विभिन्न आकार होने के लिए वायु धातु उदीकरण करती है। उस वायु को विभिन्न प्रकार के कृत्य करने में समर्थ होने के लिए चित्त नामक विज्ञान धातु निर्देश करती है। वह विज्ञान धातु जानने योग्य समस्त पदार्थ जानती है, इसलिए एक स्कन्ध के प्रधान धर्मों का विचार विचार करने पर पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, आकाश एवं विज्ञान कः^१ धातुयें ही उपलब्ध होती हैं। इसलिए 'कधातुरो अयं , भिक्षु । पुरिसो ति-^२ ऐसा कहा गया है । अर्थात् पुरुषा नामक यह पुद्गल नामक यह पुद्गल (शरीर) वह धातु वाला है।

संसार की उत्पत्ति एवं विनाश के विषय में कहा गया है कि इस संसार में कः तत्त्व ऐसे हैं जिनपर इसकी स्थिति , उत्पत्ति एवं विनाश ये तीनों अवलम्बित हैं । नाम के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का निर्माण होता है और नाम से ही इसकी स्थिति होती है, नाम से ही विनाश । सृष्टि प्रक्रिया के मूल में नाम ही एक मात्र महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । इसी से सुख दुःख , विनाश, मृत्यु जरा सभी प्रक्रियायें संचालित होती हैं। ये सभी तत्त्व अविद्या के कारण होते हैं । दूसरा तत्त्व चित्त है जिससे इस संसार की स्थिति होती है। तृष्णा के कारण इस संसार में आकर्षण होता है। संसार बन्धनों, मृत्यु एवं जरा से घिरा हुआ है। इन बन्धनों को समझने वाला व्यक्ति ही संसार को समझ सकता है ।

१- म० नि० ४०. २. ३ भाग ३ पृ० ३२३ , आचार्यनुरुद्ध -

(सं० रेवत्त धम्म एवं राम शंकर) जमि० सं० पृ० ६२६

२- सं० नि० १. ६१. ७१ भाग १ पृ० ३६

३- सं० नि० १. ६२. ७५ पृ० ३७

सृष्टि का मूल स्वरूप

बौद्धों के अनुसार विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ और स्वयं अपना अनुभव किसी एक तत्त्व या केवल मूल तत्त्वों से निर्मित नहीं हैं। वरन् हमें जितना भी अनुभव होता है, वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार के माध्यम से। वह अनुभव ही विश्व है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इनको बौद्ध दर्शन में पंच स्कन्ध का नाम दिया है। विश्व में जो कुछ भौतिक एवं वाय्वा-त्मिक तत्त्व हैं वह सब पंच स्कन्धमय है।

भगवान् बुद्ध ने सृष्टि के वादि एवं अन्त के प्रश्नों को अव्याकृत रखा है। अव्याकृत का तात्पर्य है जिसको प्रकाशित न किया जा सके। इनकी संख्या १० से १६ तक बतायी जाती है। यह संसार शाश्वत है, अप्रवण शाश्वत, लोक का अन्त होता है क्वा नही इत्यादि। भगवान् बुद्ध से जब उनके शिष्य इस विषय में प्रश्न करते थे तो बुद्ध यह बताकर कि यह अव्याकृत तत्त्व हैं मौन हो जाते थे। उनके अनुसार इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर जानकर भी मनुष्य बुद्ध ही भोगता है।

किन्तु फिर भी सृष्टि के वादि एवं अन्त के प्रश्नों को लेकर भिक्षुओं में अनेक बार वाद-विवाद होते थे। बुद्ध शिष्यों को अनेक उपमाओं के माध्यम से समझाने का प्रयत्न करते थे। एक बार उन्होंने बहुत से भिक्षुओं को एकत्रित करके कहा, भिक्षुगो। तुमने महासमुद्र को देखा है, उसके तट पर बिखरी हुई बालुका राशियों को देखा है। भिक्षु कहते हैं हाँ देखा है। भगवान् कहते हैं किसी क्षुर गणक वर्मात् जो असाक्षी है उसे हुलाखी^१ और कहो कि समस्त बालुका राशियों को परिगणित करके हमें बतावो।

१- बी० नि० ६. ३. १६ भाग १ पृ० १५६

२- बी० नि० ४४. १. १ भाग ३ पृ० ३२५

इससे पहले बताये जा चुके हैं ।

बुद्ध सृष्टि सम्बन्धी जानकारी को अपना समय नष्ट करना बताया है। किन्तु फिर भी बुद्ध को कुछ स्थलों पर तत्सम्बन्धी विचार प्रकट करने पड़े हैं। एक बार आनन्द ने भगवान् से पूछा- “ महाराज यह पृथ्वी क्यों कम्पायमान होती है। इस पर भगवान् ने उत्तर दिया है आनन्द । यह विशाल पृथ्वी जल पर स्थित है, जल वायु पर और वायु आकाश पर अवलम्बित है । जब भयंकर वायु प्रवाहित होती है तो जल प्रकम्पित होता है, जल के प्रकम्पित होने पर पृथ्वी भी कांपती है^१ । इसी प्रकार काश्यप ने भी एक बार भगवान् बुद्ध से पूछा था महाराज । यह बताइये यह पृथ्वी किस पर आधारित है, इस पर भगवान् ने उत्तर दिया ब्राह्मण । पृथ्वी जल मण्डल पर टिकी हुई है, जल मण्डल वायु मण्डल पर और वायु मण्डल आकाश मण्डल पर स्थित है । काश्यप ने फिर प्रश्न किया महाराज । यह आकाश किस पर आधारित है । इस पर भगवान् ने कहा- “ हे ब्राह्मण । तुम बहुत आगे बढ़ रहे हो । आकाश किसी पर आधारित नहीं है, वह निराधार है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सृष्टि सम्बन्धी बातों को न बताना चाहते हुए भी कुछ विचार बुद्ध को प्रकट करने पड़े हैं ।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्धों में सृष्टि सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति दो रूपों में मिलती है एक पौराणिक रूप में और दूसरे आध्यात्मिक विवेचन के रूप में ।

बौद्ध पौराणिक कथाओं के अनुसार, प्रलय के बाद जब सृष्टि विकास का समय आया तो स्वर्ग का सर्जन सर्वप्रथम हुआ । स्वर्ग में देवताओं की उत्पत्ति हुई । स्वर्ग की रचना के बाद वायुमण्डल की उत्पत्ति

हुई। वायुमण्डल के बाद आकाश का सर्जन हुआ। वायु मण्डल पर स्वर्णिम रंग के समुद्र की वर्णा हुई और जलमण्डल का उदय हुआ। इसके बाद कंचनमयी भूमि का निर्माण हुआ। बादलों ने फिर इस स्वर्णमयी भूमि पर मूल्यवान् उपलों की वर्णा की जिससे मध्य में मेरु पर्वत का निर्माण हुआ। मेरु पर्वत के अति-रिक्त आठ पर्वत श्रेणियाँ और उत्पन्न हुई। इनमें सात जो स्वर्णमयी हैं वे मेरु के पास ही हैं। दूसरी अयस्मयी उससे दूर किनारे पर है। श्रेणियों के मध्य से सागर प्रवाहमान हैं। समुद्रों में चार महाद्वीप बसे हैं। पूर्व में विदेश, दक्षिण में जम्बू द्वीप, पश्चिम में अपरगोय और उत्तर में उत्तरकुरु नामक द्वीपों की स्थिति बतायी गयी है^१।

बौद्ध ग्रन्थों में दो प्रकार के संसारों की कल्पना की गयी है। एक भूतात्मक जगत् और दूसरा ओकास या अवकाश जगत्। भूतात्मक जगत् को सत्त्वलोक कहते हैं। अवकाश लोक में देवता लोग रहते हैं और सत्यलोक में अन्य प्राणी निवास करते हैं^२।

संसार के सम्बन्ध में बौद्धों के अपने विचार

बौद्धों ने संसार रचना के सम्बन्ध में केवल पौराणिक बातों को सत्य नहीं माना अपितु उन्होंने कुछ संसार सम्बन्धी ऐसी बातें बतायी हैं जो दार्शनिक हैं। बौद्ध धर्म में सत्ता की मीमांसा जगत् सम्बन्धी विचारों को लेकर ही खड़ी हुई है। सत्ता की मीमांसा से सम्बन्धित बौद्ध से चार दार्शनिकवाद उदित हुए थे उनके नाम इस प्रकार हैं -

१- एनसाह्वलोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम ६ पृ० १२६, १३४

२- सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज भाग ३५ पृ० १०६

बुद्धिस्ट साह्कालोजी - रीज डेविड्स एण्ड एथिक्स भाग ६ पृ० १२६, ३४

उपर्युक्त उद्धरण के लिए द्रष्टव्य- डा० सरला त्रिगुणायत - मध्यकालीन

हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पृ० १६२, ६३

(१) वैभाषिक मत या बाह्यार्थ प्रत्यक्षावाद

इस मत के मानने वाले इस संसार को प्रत्यक्षा रूप से सत्य मानते हैं। इनका कहना है कि जिन धर्मों से हमारे जीवन और जगत् बने हैं वे सत्य हैं।

(२) सौतान्त्रिक या बाह्यार्थानुमेयवाद

इनकी धारणा है कि बाह्य जगत् का हमें प्रत्यक्षा ज्ञान नहीं होता। इनका मत है कि प्रत्येक पदार्थ द्वाणिक है। जब प्रत्येक पदार्थ द्वाणिक है तो उसका प्रत्यक्षा ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है? अब प्रश्न यह उठता है कि फिर हमें उसका ज्ञान कैसे होता है? इसके लिए उन्होंने प्रतिबिम्ब-स्ववाद की कल्पना की है। इनकी धारणा है कि भिन्न भिन्न पदार्थ प्रत्यक्षा होते ही चित्त पर अपना प्रतिबिम्ब अंकित कर दिते हैं। इन्हीं प्रतिबिम्बों से हम अनुमान करते हैं कि बाह्यार्थ की सत्ता है।

(३) योगाचार या विज्ञानवाद

यह सम्प्रदाय अधिक सूक्ष्मदर्शी और आदर्शवादी है। ये लोग प्रतिबिम्ब के सहारे बिम्ब रूपी सत्ता का अनुमान करना अनुचित मानते हैं। इनके मतानुसार बाह्य भौतिक जगत् सर्वथा मिथ्या है। विज्ञान ही एक मात्र सत्य है। चित्त के नाना प्रकार के आभास जगत् के रूप में प्रतिभासित होते हैं। जगत् का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। निर्वाण ही एक मात्र सत्य है।

(४) माध्यमिक या शून्यवाद

इन लोगों ने शून्य को परमार्थ तत्त्व माना है, जगत् की सत्ता को ये लोग केवल व्यावहारिक मानते हैं। वैसे संसार असत्य और मिथ्या है। इस प्रकार बौद्धों ने संसार सम्बन्धी चार प्रकार के दार्शनिक विचार प्रकट किये हैं। विज्ञानवादी संसार को विज्ञान का आभास मात्र मानते हैं। शून्यवादी संसार को केवल व्यावहारिक सत्ता मात्र मानते हैं।

बौद्धों के वैभाषिक सम्प्रदाय में धर्म शब्द का प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। यह अर्थ धर्म के प्रवृत्ति अर्थ से सर्वथा भिन्न है। वैभाषिक लोग धर्म का अर्थ भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्त्वों से लेते हैं, जिनका विच्छेदीकरण नहीं किया जा सकता^१। जगत् की उत्पत्ति इन्हीं धर्मों के घात-प्रतिघात से मानी गयी है। इन धर्मों का अस्तित्व सौतान्त्रिक और योगाचर सम्प्रदायों को भी मान्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय भी लोक के विषय में एक मत नहीं हैं। इन धाराओं में शून्यवादी धारा ऐसी है जो भगवान् बुद्ध की इस मान्यता के सबसे निकट है कि यह संसार केवल सत्ता मात्र है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु में जाण जाण परिवर्तन होता रहता है जब जाण जाण में परिवर्तन हो रहा है तो उसे पाकर क्या मिलेगा? सभी वस्तुयें जाणिक और निःसत्त्व हैं, तो उनमें से किसी को भी अपने या दूसरों के लिए प्राप्त करने का हमारा प्रयत्न विष्कूल निष्फल होगा। बाह्य वस्तुओं की इस इच्छा से भी अधिक शक्तिशाली अपना अस्तित्व बनाये रखने की चाह भव वृष्णा है। ये सब बुराईयाँ अज्ञान के कारण उत्पन्न होती हैं। सम्यक् ज्ञान

उत्पन्न होने से ये सब दुराख्याँ दूर हो जाती हैं। यद्यपि यह अविद्या उपनिषदों की अविद्या की दृष्टिनीचर होती है किन्तु यह अविद्या उपनिषदों की अविद्या से भिन्न है। यौद्धों की अविद्या के विचार अलग हैं। यहाँ अविद्या का अर्थ कोई ऐसी विश्व शक्ति नहीं है, जो ~~किस~~ निष्प्रपञ्च ब्रह्म के व्यावहारिक जगत् के रूप में दिखायी देने का कारण हो, बल्कि मात्र व्यक्ति के अस्तित्व का आधारभूत कारण है। एक अन्य दृष्टि से भी यह उपनिषदों की अविद्या से भिन्न है, क्योंकि वहाँ यह सम्पूर्ण सत्ता की तात्त्विक स्वता का अज्ञान है और यहाँ तथाकथित आत्मा के निःसत्त्व होने को न देख पाना मात्र है। सामान्यतः इस अविद्या का सम्बन्ध दुःख-दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश और दुःख के विनाश के उपाय इन चारों आर्य सत्त्यों के साथ है। वास्तव में इन चारों आर्य सत्त्यों को न जानने के कारण ही मनुष्य संसार में भटकता फिरता है। उसको शान्ति प्राप्त नहीं होती। जिसने इन चार आर्य सत्त्यों को जान लिया उसको सांसारिक मगलों से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु अज्ञान का परदा जब तक नहीं उठता तब तक इनका सही ज्ञान नहीं होता। अतः आगे इन चारों आर्य सत्त्यों पर ही विचार किया जायेगा।

धर्म चक्र प्रवर्तन

‘संयुक्त निकाय’ एवं विनयपिटक के महावग्ग में धम्मचक्कपवत्तन सुत्त में चार आर्य सत्त्यों की व्याख्या की गयी है, जो कि बुद्ध काल के मूल उपादान हैं। इनका ज्ञान भगवान् बुद्ध को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय ही हुआ था। वे चार आर्य सत्य हैं -

(१) दुःख, जो जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय जनों के मिलन प्रिय जनों के वियोग तथा इच्छित वस्तुओं की अप्राप्ति

के कारण होता है, संक्षोप में, जिन पंच स्कन्धों से जीव धारियों का निर्माण हुआ है, वे सभी दुःखमय हैं ।

(२) द्वितीय है- दुःख का मूल (दुःख समुदय)।

दुःख का मूल कारण है हमारी अपनी तृष्णा । यह तृष्णा तीन प्रकार की होती है, काम तृष्णा, भव तृष्णा, विभव तृष्णा । संसार में जो प्रियकर है, संसार में जिसमें मजा है वह यह अपना घर बनाती है। रूप संज्ञा, शब्दसंज्ञा, गन्ध संज्ञा, रस संज्ञा, स्पर्श संज्ञा तथा धर्म संज्ञा, ये सब प्रियकर हैं, एवं इन सब में मजा है^१ । रूप संचितना, शब्द संचितना, गन्ध संचितना, रस संचितना, स्पर्श संचितना तथा धर्मसंचितना ये प्रिय हैं इनमें मजा है । इनमें यह तृष्णा पैदा होती है। सुख वेदना को मनुष्य लेना चाहता है और दुःख को छोड़ना चाहता है। वेदना को अपना बनाना राग उत्पन्न करना है । वेदना में जो राग है वही उपादान है । जहाँ उपादान है, वहीं भव है । जहाँ भव है वहीं पैदा होना है। जहाँ पैदा होना है, वहीं बूढ़ा होना, मरना शोकादि हैं। इस प्रकार सारे दुःख का समुदय होता है^२ । इस दुःख के निरोध के बारे में कार्य सत्य है कि सारी तृष्णायें छोड़ वैराग्य प्राप्त करे । यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा मरण का अन्त होना है^३ । यह तीसरा दुःख है ।

चतुर्थ सत्य है दुःख के नाश का उपाय या मार्ग जिसे दुःख निरोध गामिनी प्रतिष्ठा कहा जाता है जिनमें अष्टांग मार्ग के अंग सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् समाधि सम्यक् दृष्टि, सम्यक् स्मृति, सम्यक् संकल्प आते हैं ।

१- स० नि० १२. १६. १७ भाग २ पृ० १८

महावग्ग- १. ७. १३ पृ० १३

२- म० नि० ३८. २. ५ भाग १ पृ० ३१८ महातण्हासंख्यसुत्त

३-द्रष्टव्य- नलिनादादत्त- उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास पृ० १३६

आर्य सत्य जन सामान्य के लिए एक व्याख्या है। वस्तुतः दुःख का अर्थ यहाँ वास्तविक दुःख नहीं जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। दुःख का वास्तविक अर्थ है इस संसार में किसी भी रूप में जन्म लेना व जीवन धारण करना, चाहे वह पशु के रूप में हो अथवा मनुष्य देव अथवा ब्रह्मा के रूप में। तात्पर्य है कि मनुष्य जो कुछ इस संसार में प्राप्त करता है, स्वास्थ्य, धन, सम्पत्ति, सन्तान, नरक स्वर्ग की प्राप्ति, दिव्य शक्तियाँ तक अन्त में नाश को प्राप्त होती हैं। इस संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है, नित्य नहीं है इसलिए मनुष्य को सभी अनित्य वस्तुओं की कामना त्याग कर नित्य सत्य की खोज करनी चाहिए। अतः दुःख का अर्थ है 'यह सुख दुःखमय सांसारिक जीवन जो वस्तुतः सारहीन एवं अनित्य है। इसी प्रकार द्वितीय समुदय अर्थात् दुःखसमुदय का अर्थ है- सांसारिक जीवन तथा उसके सुखों एवं दुःखों का कारण। तृतीय सत्य 'दुःख निरोध का अर्थ है 'निर्वान' जहाँ सांसारिक जीवन का प्रवाहपूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाता है। चतुर्थ आर्य सत्य अर्थात् दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा से तात्पर्य उस अष्टांग मार्ग से है जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है, जिसके विषय में कहा जाता है कि उससे न केवल अनित्य सांसारिक जीवन के प्रवाह तथा उससे होने वाले दुःखों का नाश होता है अपितु उसके द्वारा पूर्ण मोक्ष अर्थात् निर्वान (निर्वाण) की प्राप्ति हो जाती है।

बुद्ध के अनुसार सत्य न सत् है और न असत् बल्कि परिवर्तन है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि बुद्ध ने वास्तविकता का निषेध किया। उन्होंने उसे स्वीकार तो अवश्य किया, लेकिन उसे गति-

१- द्रष्टव्य- डा० नलिनाका दत्त - उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास पृ०

१३७

हिरियन्- भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० १४६

शील बताया। निरन्तर परिवर्तन हो रहा है ' किया है, लेकिन कर्ता कोई नहीं है ' ' क्योंकि उत्पत्ति निरन्तर होती जा रही है, पर नयी वस्तुयें अस्तित्व में नहीं आ रही हैं, इसलिये विश्व प्रक्रिया बन जाता है- निरन्तर उत्पत्ति विनाशशील हो जाता है। न सम्पूर्ण विश्व को और न उसके अन्दर की किसी वस्तु को ही इस प्रक्रिया का कर्ता कहा जा सकता है। प्रक्रिया ही वस्तु है। इस प्रक्रिया को चलाने वाला नियम बौद्धों में महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध के समय में बुद्ध का कथन था कि प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तु पर उसके पूर्व रूप का प्रभाव पड़ता है। इस समस्या को इस प्रश्न के द्वारा पूरा किया जा सकता है। यदि प्रत्येक वस्तु सदृश अवस्थाओं का अनुक्रम मात्र है, तो उससे किन्हीं दो पूर्ववर्ती और परवर्ती सदृशों में क्या सम्बन्ध है? बुद्ध के समय में ऐसे अनुक्रम की एक व्याख्या यह दी गयी थी कि वह यादृच्छिक है। एक अन्य व्याख्या ने इस अनुक्रम के अन्दर कारण कार्य सम्बन्ध को तो स्वीकार किया, लेकिन साथ ही ज्ञात तत्त्वों के अतिरिक्त एक ईश्वर जैसे अलौकिक तत्त्व को भी शामिल कर लिया। दोनों ही व्याख्याओं में वस्तुओं के घटना क्रम में मनुष्य के सफलता-पूर्वक हस्तक्षेप करने के लिए गुणादृश नहीं रहती। बुद्ध ने इन दोनों ही व्याख्याओं को अस्वीकार कर दिया और अनिवार्यता को ही एक मात्र नियामक तत्त्व माना। यादृच्छिकता का निषेध उन्होंने प्रकृति की स्वरूपता के आधार पर किया और ईश्वर के हस्तक्षेप का निषेध करके उन्होंने सैद्धान्तिक धर्म से अपने को बिल्कुल अलग कर दिया। ये दोनों धारणायें अज्ञात तरीक़ों से काम करने वाली किसी शक्ति का सुझाव देती हैं। बौद्ध ऐसी शक्ति को सर्वथा निषेधात्मक रूप में देखते हैं^१। लेकिन इस बात में वह उससे भिन्नता भी रखता है कि स्वभाववाद कार्यात्पादन की आवश्यकता को कारण में स्वभावसिद्ध मानता है। उसके अनुसार हमें किसी वस्तु के इतिहास की व्याख्या के लिए उसके बाहर जाने की जरूरत नहीं है। बौद्ध मत इस तरह की कोई आन्तरिक प्रयोजनवत्ता

नहीं मानता, क्योंकि उसके अनुसार कार्यात्पादन कारण का स्वयं को व्यक्त करना मात्र नहीं है, बल्कि वह कारण के साथ ही कुछ बाह्य सहकारी कारकों का भी संयुक्त फल है। कारण-कार्य के अनुक्रम में अनिवार्यता तो है, लेकिन वह **अनिवार्यता औपाधिक प्रकार** की है। वह औपाधिक इसलिए है कि कोई सन्तति तब तक अस्तित्व में नहीं आती जब तक कुछ उपाधियाँ पूरी न हो गयी हों और वह अनिवार्य इसलिए है कि एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद सन्तति तब तक समाप्त नहीं होती जब तक उपाधियाँ बनी रहती हैं। उदाहरणार्थ, ज्वाला सन्तति तब तक शुरू नहीं होती जब तक बत्ती, तेल इत्यादि न हों, लेकिन जब एक बार वह शुरू हो जाती है, तब वह अविविच्छिन्न रूप से तब तक चलती रहती है जब तक एक या अधिक सहकारी कारक हटा नहीं दिये जाते। इस प्रकार, यद्यपि नियम, सार्वभौम और निरूप्याद होता है, तथापि उसका व्यापार उपाधियों के अधीन होता है। इसीलिए यह 'प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम' कहलाता है, यदि वह है तो यह है, उसके उदय से इसका उदय होता है^१।

चतुर्थ सत्यों में कार्य अष्टांगिक मार्ग और प्रतीत्यसमुत्पाद दोनों अन्तर्भावित हैं। भगवान् बुद्ध का सम्पूर्ण मन्तव्य अर्थात् अपने मत की पुष्टि इन चार कार्य सत्यों में ही है। चार अर्थ सत्यों को समझाने के लिए ही उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का वर्णन भिक्षुओं के सामने किया ताकि दुःख के निःसमुदय और निरोध को ये लोग समझ लें।

प्रतीत्यसमुत्पाद वर्णन

प्रतीत्य समुत्पाद (पालिपट्टिच्चसमुत्पाद) का अर्थ है प्रत्ययों से उत्पत्ति का सिद्धान्त - प्रतीत्य (इसके होने से) (समुत्पाद)

यह उत्पन्न होता है (इस सम्बन्धी ज्ञान) । इसी परिभाषा में ही यह भी सम्मिलित है कि इसके न होने से यह नहीं होता, इसके निरोध से यह भी निरुद्ध हो जाता है।

कहा जाता है कि अभिसम्बोधि प्राप्त करते हुए बुद्ध देव ने प्रथम याम में पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त किया, मध्यम याम में दिव्य चक्षु प्राप्त किये और अन्तिम याम में प्रीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार किया था । जब उनका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो गया तब उन्हें इस दृश्य जगत् के मौलिक सत्य का अनुभव हुआ । तब उन्होंने स्वामाविक क्रम से कारणों की एक शृंखला या परम्परा स्थिर की , जिसकी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में जीवों एवं पदार्थों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसकी अनित्यता एवं जाण-मगुरुता के कारण कैसे वे दुःख के बन्धन में फँस जाते हैं और किस प्रकार उक्त कारण शृंखला की प्रत्येक कड़ी को काट कर जीव पुनर्जन्म के चक्र तथा उससे होने वाले दुःखों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

प्रीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा इस बात का ज्ञान हो जाता है कि संसार में बार बार जन्म और उससे होने वाले दुःखों का सम्बन्ध किसी सृष्टि कर्ता ईश्वर, नित्य प्रकृति, अपरिवर्तनीय एवं अविनाशी ब्रह्म अथवा आत्मा या नियति से नहीं है प्रत्युत इसके कुछ निश्चित हेतु (कारण) और प्रत्यय (फल) होते हैं । संसार के सभी जीव और पदार्थ एक अव्यक्त प्रवाह की स्थिति में हैं। इस संसार में जाण-जाण परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन इस बात को प्रकट करता है कि इस संसार में कुछ भी नहीं है जो नित्य सत्य समझ कर ग्रहण किया जा सके । इस बात को समझने के बाद सांसारिक विषयों में मनुष्य अपना मन नहीं लगाता । उसका सारा आकर्षण

१- विनयपिटक - महावग्ग १. १. १ पृ० ३

म० नि० ३८. २. ५ पृ० ३१८ महातण्हासस्य सुत्त

२- द्रष्टव्य - नत्तिवादावत्त, उत्तर प्रदेश में बौद्ध दर्शन का विकास पृ० १४६

समाप्त हो जाता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता । तब उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है जो सर्वथा कारण रहित और प्रत्यय रहित (अप्रतीत्य समुत्पन्न) है ।

त्रिपिटकों में प्रतीत्यसमुत्पाद का वर्णन इस प्रकार किया गया है -

अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप, नाम-रूप के प्रत्यय से षडायतन , षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति, जाति के प्रत्यय से जरा-मरण , शोध-परिदेवन, दुःख और दौर्मनस्य उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदय होता है, यही कहा जाता है मिच्छुओं प्रतीत्यसमुत्पाद ।

अविद्या से तात्पर्य राग, द्वेष, मोह दोनों या मलों से है जो भाव रूप हैं तथा संस्कारों (संसारा , मिथ्या धारणायें) के जनक हैं । ये अविद्या अर्थात् मूल सत्त्यों के अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इसके द्वारा मन में पुण्य, अपुण्य और अनेज्ज ^१ (न पुण्यन अपुण्य) सम्बन्धी कल्पनाओं की सृष्टि होती है। जब इस प्रकार की कल्पनायें मनुष्य के मन में जम जाती हैं और जीवन के अन्त तक बंधी रहती हैं तो उन्हें ' संस्कार ' कहते हैं । ये संस्कार मनुष्य के द्वारा उसके सम्पूर्ण जीवन में किये गये कर्मों के परिणाम होते हैं । इन संस्कारों के फलस्वरूप ही उसके अगले जन्म का निर्माण होता है।

१- स० नि० १२, १. १ भाग २ पृ० ३ निदान संयुत्त सुत्त

अविज्जापञ्चया , मिदस्स संसारा ---- अयं वुज्जति मिदस्से,
पटिज्जसमुत्पादो ॥

अविद्या और संस्कार का सम्बन्ध मनुष्य के पूर्व जन्म से जोड़ा गया है^१।

संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान (विज्ञान से तात्पर्य) उन चित्त धाराओं से है जो पूर्व जन्म में किये हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप यहाँ प्रकट होती है और जिनके कारण ही मनुष्य का अपने विषय में वास, कान, नाक, जीभ, शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है। यदि अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत संस्कार उत्पन्न न हो तो फिर माता के गर्भ में पुनः विज्ञान का बीज न पड़े तथा पुनर्जन्म न हो^२।

विज्ञान के प्रत्यय से नाम रूप होता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इनको 'नामरूप' कहते हैं। मानसिक वृत्तियाँ बिना किसी बाह्य आश्रय या विषय के नहीं रह सकतीं, अतः उनके लिए 'रूप' एवं धातुओं- जैसे मांस, रक्त, अस्थि इत्यादि की आवश्यकता होती है। इस कारण पूर्व जन्म के संस्कार एक नये जीव को उत्पन्न करते हैं जो अपना जीवन गर्भ के भीतर एक वर्धमान हिम्म के रूप में प्रारम्भ करता है और जिसका पोषण माता के रक्त द्वारा होता है। गर्भ के भीतर ही बढ़ते हुए इस नामरूपात्मक पिण्ड में ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यद्यपि अपने अपने विषयों के अभाव में वे निष्क्रिय बनी रहती हैं।

जीव जब गर्भ या अण्ड से बाहर आता है तो उसकी इहाँ ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क (स्पर्श) उनके छः प्रकार के विषयों से होता है और वे 'वेदना' अर्थात् बुरे या भले अनुभव उत्पन्न करती हैं। वेदनायें अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार की तृष्णा उत्पन्न करती हैं जैसे सांसारिक विषयों की तृष्णा (काम तृष्णा) काम, रूप और अरूप इन तीन

१- द्रष्टव्य- नलिनादादत्त - उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास पृ० १५०

२- भरत सिंह उपाध्याय- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ३६५

प्रकार की योनियों में से किसी में पुनः जन्म लेने की तृष्णा (भव-तृष्णा) अथवा अपने जीवन का अन्त कर देने की तृष्णा (विभव तृष्णा) किसी भी प्रकार की तृष्णा से अपनी इच्छित वस्तुओं एवं मिथ्या धारणाओं के प्रति घोर आसक्ति (उपादान) हो जाती है। 'उपादान' शब्द का अर्थ है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने और प्राप्त वस्तु को अपने पास बनाये रखने की शक्तिशाली इच्छा (राग) । यह चार प्रकार का कहा गया है- सांसारिक विषयों में आसक्ति (काम) भ्रान्त विचारों (दृष्टि) के प्रति आसक्ति, यज्ञ तपादि कर्मों (सील-व्रत) के प्रभाव तथा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास के प्रति आसक्ति । उपादान का परिणाम है - काम , रूप और अरूप- इन तीनों योनियों में से किसी में पुनर्जन्म^१ (भव का पुनर्भव) ।

भव के प्रत्यय से जाति होती है। जाति से तात्पर्य है बच्चे की माँ की कोख में जाने पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पंच स्कन्ध का प्रस्फुरण । जब 'भव' है तभी तो 'जाति' है अन्यथा माता के पेट में शयन क्यों होता ?

जाति के प्रत्यय का तात्पर्य है जरा मरण । जहाँ जाति अथवा पुनर्जन्म नहीं है वहाँ जरा, मरण, शोक, परिदेव और उपा-यास भी नहीं है ? किन्तु जहाँ पुनर्जन्म है वहाँ तो ये अनिवार्य ही हैं । अतः इस पुनर्जन्म के निरोध से ही दुःख का निरोध सम्भव है । इसी अर्थ को विस्त-रित करते हुए भगवान् कहते हैं - 'यदि आनन्द । जन्म न होता तो सर्वथा किसी की जाति न होती, भूतों का भूतत्व , मनुष्यों का मनुष्यत्व, गन्धर्वों का गन्धर्वत्व, पक्षियों का पक्षित्व न होता यदि जन्म का अभाव होता, निरोध

१- नलिनाकावत्त - उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास पृ० १५१

२० दी० नि० महानिदानसुत्त-बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन से उद्धृत

होता तो क्या आनन्द जरा मरण दिखायी देते ।

संयुक्त निकाय के 'लोक समुदय सुत्त' में भगवान् बुद्ध ने 'लोक' के समुदय और विनाश की देशना करते हुए बताया कि चक्षु और रूप से विज्ञान उत्पन्न होता है और चक्षु एवं विज्ञान के उत्पन्न होने से स्पर्श होता है, वेदना होती है, तृष्णा होती है, भव होता है और भव के कारण ही जाति जरा मरण होते हैं । जिह्वा एवं उसके विषयों से रस उत्पन्न होता है, रसोत्पत्ति से जीव विज्ञान उत्पन्न होता है । मन और धर्म के संस्पर्श से मनोविज्ञान होता है जो वेदना और तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान है। ये चार संसार के उपादान हैं जिसके कारण संसार का समुदय होता है । इसी प्रकार विनाश भी होता है। इन समस्त उपादानों के निरोध से दुःसंस्कन्ध का निरोध हो जाता है।

त्रिपिटकों में १८ प्रकार की धातुओं का वर्णन हुआ है । वहाँ कहा गया है कि इन धातुओं के आधार पर संसार की उत्पत्ति एवं विनाश प्रतिष्ठा पादि होती है । वे हैं-

चक्षु , रूप , चक्षुविज्ञान
श्रोत्र , शब्द , श्रोत्रविज्ञान
घ्राण, गन्ध , घ्राणविज्ञान
जिह्वा, रस , जिह्वाविज्ञान
काय, स्पर्श , कायविज्ञान
मन, धर्म , मनोविज्ञान^१

१- स० नि० ३५. १०७. १०८ भाग ४ पृ० ८०

२- व० पि० ४. १. १ भाग १

स० नि० ३८. २. ५ पृ० ३१८

“संयुक्त निकाय” के निदान वर्ग में संसार चक्र की व्याख्या की गयी है। वह इस प्रकार है -

“सिद्धान्त यह है कि मनुष्य जिस तृष्णा को लेकर मरता है उसी की प्रेरणा से वह फिर जन्म ग्रहण करता है। जिसने तृष्णा का सर्वथा प्रहाण कर दिया वह बीत तृष्णा चित्त से मरता है और इस कारण वह फिर जन्म ग्रहण नहीं करता। तृष्णा का कारण है हमारी अपनी अविद्या। यथार्थ में सभी चीजें अनित्य, वसतः और दुःसंपूर्ण हैं। इस कारण का साक्षात्कार न होने के कारण मनुष्य संसार की वस्तुओं को नित्य समझ बैठता है और उनके पीछे दौड़ता है। यही अविद्या है, अज्ञान है। इन तृष्णाओं की पूर्ति न होने के कारण ही मनुष्य कुर्म करता है। जन्म मर के एकत्रित संस्कार के अनुरूप उसका चित्त प्रवाह अच्छी या बुरी योनि में प्रवाहित होता है। माता के गर्भ से जो पहला चित्त जाण उत्पन्न होता है उसे “विज्ञान” कहते हैं। विज्ञान के उत्पन्न होते ही चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का विकास होता है। समय पाकर गर्भ क्रमशः परिपक्व हो जाता है और नये जन्म में अवतरित होता है।

इन्द्रियों का सम्पर्क अपने अपने विषयों से होता है और उससे सुख-दुःख या उपेक्षा की वेदना होती है। वेदना से विषय के प्रति तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा से वह विषय के प्रति लग जाता है जिसे उपादान कहते हैं। इससे वह तरह तरह के कर्म करने लगता है और संसार का चक्र इस प्रकार चलता रहता है।

भगवान् बुद्ध का कथन है कि संसार में जो कुछ भी प्यारा है उसे चाहे पिछले समय के, चाहे अब के, चाहे भविष्य के जो भ्रमण

ब्राह्मण दुःख करके समझेंगे, रोग करके समझेंगे उससे डरेंगे वे ही तृष्णा को छोड़ सकेंगे ।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इस पंच स्कन्ध निर्मित संसार में बन्धन है। तृष्णा है अविद्या के कारण ही मनुष्य भव की कामना करता है। अविद्या को नष्ट करके तृष्णा का प्रहाण करके मनुष्य को इस तृष्णामयी संसार से मुक्ति लेनी चाहिये । तभी उसकी दुःखादि वेदनायें समाप्त होंगी ।

इन्हीं बातों को त्रिपिटकों में द्वादश निदानों के नाम से जाना जाता है। वहाँ कहा गया है-

“ अविद्या के रुक जाने से संस्कार रुक जाते हैं, संस्कारों के रुक जाने से विज्ञान रुक जाता है । विज्ञान रुक जाने से नाम रूप रुक जाते हैं । नाम रूप के रुक जाने से षडायतन रुक जाते हैं । षडायतन के रुक जाने से स्पर्श रुक जाता है। स्पर्श के रुक जाने से वेदना रुक जाती है । वेदना के रुक जाने से तृष्णा रुक जाती है। तृष्णा के रुक जाने से उपादान रुक जाता है। उपादान के रुक जाने से भव रुक जाता है। भव के रुक जाने से जाति रुक जाती है। जाति के रुक जाने से जरा मरण शोक परिदेव-दुःख दौर्मनस्य हैरानी परेशानी रुक जाती है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध रुक जाता है । यही कहा जाता है भिच्छुजो । प्रतीत्यसमुत्पाद ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध यह बतलाना चाहते हैं कि किसी भी प्रकार से संसार की वस्तुओं को नित्य सार समझ कर

१- दी० नि० ६, २ महासत्तिपठानसुत्त

२- स० नि० १२, १, १ पृ० ३ निदान संयुत्तसुत्त

उनमें जानन्द न लो । मनुष्य को अपनी वासनाओं को त्याग कर निर्वाण प्राप्त करना चाहिए ।

काल की दृष्टि से हम प्रतीत्यसमुत्पाद की १२ कड़ियों को तीन भागों में बाँट सकते हैं । अतीत, वर्तमान, भविष्य । अतीत वर्तमान और भविष्य का सम्बन्ध हम तीन जन्मों से भी मान सकते हैं । बुद्ध के अनुसार चित्त (विज्ञान) की सतत प्रवाहशील धारा के ये तीन लगातार आने वाले क्षण हैं । प्रत्येक क्षण जन्म एवं मरण होते रहते हैं । इसलिए दूसरे अर्थों में कहा जा सकता है इस जन्म में और दूसरे जन्म में कोई अन्तर नहीं है । अविद्या और संस्कार दोनों मिलकर हमारे पूर्व जन्म की वे रचनात्मक कर्म शक्तियाँ (कम्मभव) हैं, जो संकलित होकर हमारे वर्तमान जन्म (उत्पत्ति-भव) को निश्चित करती हैं। हमारे वर्तमान जीवन के विज्ञान, नाम रूप , षडायतन, स्पर्श और वेदना सब उसी के विपाक स्वरूप हैं। उसके बाद हमारे वर्तमान जीवन की कड़ियाँ, जो तृष्णा, भव और उपादान के रूप में उत्पन्न होती हैं- स्वयं कर्म- भव बन जाती है (अतीत जीवन के अविद्या और संस्कार के समान) जिनका विपाक भविष्य के पुनर्जन्म रूप में होता है और वहाँ फिर जरा मरण और दुःस की सन्तति उत्पन्न हो जाती है जो वर्तमान जीवन के कर्म विपाक के समान ही है। इस प्रकार यह भव चक्र चलता रहता है। प्रतीत्य-समुत्पाद की इन १२ कड़ियों को इस प्रकार की समझाया जा सकता है -

	अतीत	वर्तमान	भविष्य
कम्मभव	(१) अविद्या	(८) तृष्णा	
	(२) संस्कार	(९) उपादान	
		(१०) भव	

१- डा० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन पृ० ४११

दृष्टव्य- भरतसिंह उपाध्याय - बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ४०१

अतीत	वर्तमान	भविष्यत्
उत्पत्ति भव	(१) विज्ञान	(११) जन्म
	(२) नाम-रूप	(१२) जन्म-मरण- दुःख
	(५) षडायतन	
	(६) स्पर्श	
	(७) वेदना	

प्रतीत्यसमुत्पाद में आन्तरिक और बाह्य जीवन के समस्त व्यापारों के समुदय और निरोध का क्रम हेतुओं और निदानों के अन्योन्याश्रित भाव के आधार पर करना दिसाया है। इस जीवन की हर वस्तु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु के साथ है। हर वस्तु अपने कार्य में कारण का भाव रखती है। इस बात को समझने के बाद ही मनुष्य को निर्वाण मिलता है। संसार में जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब कारणों एवं अवस्थाओं से ही प्रादुर्भूत हुआ है और हर अवस्था में स्थिर है। इस प्रकार यह कारण रूप भव चक्र निरन्तर चलता रहता है।

इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद इत्यादि का वर्णन करते हुए हम देखते हैं कि भगवान् विश्व के प्रत्येक सत्य को पंच स्कन्धों से निर्मित मानते हैं। उनके अनुसार विश्व का प्रत्येक प्राणी अविद्या के कारण भव चक्र में फँदा हुआ है।

बौद्धों के पंच स्कन्धों के समान जैन भी इस संसार को ५: द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से निर्मित बताते हैं। ये ५: द्रव्य अनादि काल से एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होकर स्थित हैं। लेकिन इनका संप्लव एक दूसरे द्रव्यों में कभी नहीं होता, जबकि पुराणों में वर्णित प्रकृति, महत्, बर्हकार तथा मृत एवं तन्मात्रा आदि सृष्टि तत्त्वों का संप्लव एक दूसरे में सम्भव है। सृष्टि काल में ये तत्त्व ब्रह्म से महत् आदि क्रम से

वा विभूत होते हैं और संसार कास में उसी में विलीन हो जाते हैं। वेदों एवं पुराणों में इन तत्त्वों को एक दूसरे में विलीन होने वाले तत्त्व स्वीकार किया गया है जबकि बौद्धों के अनुसार सृष्टि के घटन कजिन पंच स्कन्धों को बताया है, वे न तो जैनों के षड्रव्यों के समान एक दूसरे में स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व या मूल द्रव्य हैं और न पुराणों के अनुसार एक दूसरे में विलीन हो सकने वाले सृष्टि तत्त्व। इसके विपरीत ये निरन्तर प्रवाहमान संसार के एक दूसरे पर आधारित क्षणिक स्कन्ध मात्र हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार उनकी एक अवस्था से दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है और दूसरी अवस्था से तीसरी। इस प्रकार उनकी सन्तति अनन्त काल तक चलती रह सकती है। इस सन्तति के उत्पाद, व्यय तथा निरोध के कुछ नियम हैं और उन्हीं के अनुसार यह संसार परिचालित हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध मत में पंच स्कन्ध किसी तत्त्व की कोटि में नहीं आते। वे न तो किसी एक तत्त्व के प्रपञ्च हैं और न स्वतन्त्र सत्ता के रहने वाले मौलिक द्रव्य। स्वयं भगवान् बुद्ध ने व्यर्थ के तात्त्विक विवाद से बचने के लिए इस प्रकार का मार्ग अपनाया है। यदि इन तत्त्वों के किसी एक तत्त्व से निकलने वाला माना जाय तो प्रश्न उठेगा, ऐसा क्यों हुआ? कब हुआ? किस की इच्छा से हुआ? और इसी प्रकार क्यों हुआ? अन्य प्रकार क्यों नहीं हुआ? और यदि इन्हें स्वतन्त्र रहने वाला मौलिक तत्त्व माना जाय तो प्रश्न उठेगा कि स्वतन्त्र सत्ताक होते हुए भी ये तत्त्व आपस में क्यों मिले? कैसे मिले? कब किसने मिलाये इत्यादि। इसलिये भगवान् ने इन तत्त्वों को निरन्तर प्रवाहमान कहा।

कल्प विचार

बौद्ध परम्परा के अनुसार काल की गणना कल्प

की दृष्टि से की गयी है। बीड़ों की उत्पत्ति की दृष्टि से कल्प दो प्रकार के होते हैं- सून्य कल्प तथा असून्य कल्प । सून्य कल्प में बुद्ध उत्पन्न नहीं होते , उनकी उत्पत्ति केवल असून्य कल्प में देखी जाती है। पुनः असून्य कल्प के पाँच भेद होते हैं । यथा- सारकल्प, मण्डकल्प, परकल्प, सारमण्डलकल्प , मद्रकल्प ।

लोक में कल्प कीलाहल, बुद्ध कीलाहल तथा चक्र-^१वर्ती कीलाहल यह तीन प्रकार के कीलाहल उत्पन्न होते हैं ।

प्रलय काल के एक लाख वर्ष बीत जाने पर कल्प की उत्पत्ति होती है। काम धातु के रहने वाले लोक व्यूह नामक देवता तुले मस्तक वाले, जिनके पेश बिसरे होते हैं, रोते हुए, बालों से बाँसू पोखते हुए, लाल वस्त्र पहने हुए, अत्यन्त क्रुप वेश धारण किये हुए मनुष्य लोक में घूमते हुए , बिस्ताते हुए कहते हैं- मित्रों । लाख वर्ष बीतने पर कल्प का उत्थान होगा, लोक विनाश होगा, समुद्र सूख जायेगा, फलराज सुमेरु फलित , पृथ्वी उड़ जायेगी , ब्रह्म लोक तक स्मस्ति ब्रह्माण्ड का नाश हो जायेगा । मित्र मैत्री भावना की कामना करो, माता पिता की सेवा करो कुल में जो ज्येष्ठ हो उनकी सेवा करो, यह कल्प कीलाहल हुआ ।^२

लोक व्यूह देवताओं का कीलाहल सुन कर मनुष्य एवं भूमि मिश्रित देवता खेग को प्राप्त कर परस्पर मृदुचित होकर मैत्री , करुणा आदि की भावना करके च्युति के अनन्तर ऊपर की देव भूमियों में

१- डा० महेश तिवारी - जातक निदान कथा पृ० ११६

लोकस्मि हि तीणि कीलाहलानि उपपज्जन्ति

कल्प कीलाहलं, बुद्ध कीलाहलं, चक्रवर्त्ति कीलाहलंति ।।

२- वही , पृ० ११८

उत्पन्न होते हैं। वहाँ प्रातः भोजन करके वायुकात्स्न्य में परिकर्म करके ज्ञान को प्राप्त होते हैं। अन्य तिरच्छान प्रेतादि सत्त्व भी अपरपर्यायवेदनीय कुशल कर्मों के कारण व्युत्त होकर देवभूमियों में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार देवभूमियों में पहुँचने वाले ये सत्त्व पहले की तरह काम गुणों में आसक्त न होकर वहाँ भी ज्ञान भावना में तल्लीन रहते हैं, वतः ज्ञानों को प्राप्त कर के, जिन भूमियों का अग्नि से प्रलय नहीं होता, ऐसी आमाश्वर वादि ब्रह्मभूमियों में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ सत्त्वों के पहुँचने पर तेज सम्पन्न सूर्य उदित होता है। उसके उदित होने पर दिन रात का परिज्ञान नहीं होता। तमाम नदियाँ सूख जाती हैं^१।

इस प्रकार एक लाख करोड़ चक्रवालों में २ सूर्यों के प्रमण करते हुए तीसरा सूर्य उदित होता है उसके हिमालय के सात सरोवर , एवं गंगा , यमुना सूख जाती हैं। पाँचमे सूर्य के उदित होने पर महासमुद्र भी सूख जाता है। छठे सूर्य के उदित होने पर एक लाख करोड़ चक्रवालों में आद्रता का क्षीण विनाश होकर उसमें घूम उठने लगता है तब सप्तम सूर्य के उदित होने पर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है जिससे एक लाख करोड़ चक्रवालों के पृथ्वी, अप एवं वायु प्रातु के तल से लेकर प्रथम ज्ञान ब्रह्मभूमि तक सब कुछ जल कर नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार पृथ्वी, जल वायु मण्डल का प्रलय हो जाने पर प्रथम ज्ञानभूमि एवं उसके नीचे कोई भी नाम एवं रूप धर्म अवशेष नहीं रहता। नाम, रूप के न रहने पर अग्नि शान्त हो जाती है एवं सम्पूर्ण चोत्र शून्य महान्धकार की तरह प्रतीत होता है^२।

इस प्रकार प्रलयकालिक अविवृष्टि काल से लेकर

१- विष्णु० पृ० २६०

२- विष्णु० पृ० २६०

३- विष्णु० पृ० २८८-२६०

अग्नि के शान्त होने के काल को अस्त्य कल्प कहते हैं ।

विशुद्धि मग्न में चार प्रकार के कल्पों का वर्णन मिलता है-

- १- वायु कल्प
- २- अन्तर कल्प
- ३- अस्त्येय कल्प
- ४- महाकल्प

जातकों में केवल दो ही कल्पों का वर्णन मिलता है । लोक में बुद्ध कोलाहल जब होता है उस समय लोक पाल देवता कहते हुए घूमते हैं जब से सहस्र वर्ष बीतने पर लोक में बुद्ध उत्पन्न होंगे यह बुद्ध कोलाहल हुआ ।

सौ वर्ष बीतने पर चक्रवर्ती राजा उत्पन्न होगा । यह सोच कर देवता कहते हैं- मित्रों जब से सौ वर्ष बीतने पर लोक में चक्रवर्ती राजा उत्पन्न होगा । यह चक्रवर्ती कोलाहल हुआ । ये तीनों कोलाहल महान् कोलाहल होते हैं ।

अस्त्येय कल्प महाकल्प के एक चौथाई काल के बराबर होता है।

विशुद्धि मग्न के अनुसार ७ बार सृष्टि एवं ७ बार प्रलय होने के बाद जब आठवीं बार सृष्टि होती है तो लोक व्यूह देवताओं द्वारा कोलाहल होता है। उस समय तृतीय सूर्य का प्रकाशन नहीं होता एवं नमकीन

१- विशु० पृ० २८८ आचार्यअनुरोध तं० रेवत धम्म एवं राम संकर) अमि० सं०
पृ० ४६६ पर उद्धृत

जल वृष्टि होती है। वर्षा इतनी होती है कि तृतीय व्यान भूमि के सारे पदार्थ धुलकर विनष्ट हो जाते हैं।

प्रलय एक बार जल से होता है, सात बार अग्नि से इस प्रकार ६४ वीं बार प्रलय वायु से होता है। इस समय भी लोक व्यूह नामक देवताओं का कोलाहल होता है। उस समय सम्पूर्ण लोक पूर्ण विवर्ण होकर उड़ने लगता है। सुमेरु पर्वत, वृद्धादि उड़ने लगते हैं। तृतीय व्यान भूमि के सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं।

महाकल्प के एक चौथाई काल तक संसार महान्धकार से घिरा रहता है। जब सृष्टि प्रारम्भ होती है तो सर्वप्रथम वर्षा होती है। वह वर्षा होती होते तेज होने लगती है और सब तरफ जल ही जल हो जाता है। चारों ओर से भेगवान वायु उठते हैं जिससे वह जल एक जगह एकत्रित रहता है।

इस प्रकार वायु चारों ओर जल सूखने लगता है और ऊपर की ब्रह्मभूमियों से जल सूख कर नीचे जाने लगता है तो आकाश में ब्रह्मभूमियाँ उत्पन्न होती हैं। जल प्रलय होता है तब ब्रह्मभूमियों का विनाश अन्त में होता है। (जब सृष्टि प्रारम्भ होती है तब ब्रह्मभूमियों का उत्पाद पहले होता है) तदनन्तर ऊपर की चार देवभूमियाँ उत्पन्न होती हैं। उन देव एवं ब्रह्मभूमियों के विमान आदि उन भूमियों में जाने वाले सत्त्वों के कर्म एवं कर्तु से उत्पन्न सत्त्वों के निर्मित होते हैं। सत्त्वों के पहुँचने के पूर्व वहाँ विमान आदि नहीं होते, केवल भूमियों का निर्माण हुआ होता है। चार्तुमहाराजिक एवं त्रायस्वित्र भूमियों का उग्राह से सम्बन्ध होने के कारण अभी उनका निर्माण नहीं होता।

धीरे धीरे जल सूख कर कम होते होते जब पृथ्वी

तब वा पाता है तब तब वायु चलती है वातः पत उधर उधर नहीं हो पाता । वायु वेग से पत का मन्थन होता रहता है। कुछ काल के अनन्तर उस पत में 'रस-पृथ्वी' नामक वोजू का उत्पाद होता है और वह पृथ्वी वर्ण, गन्ध और रस से युक्त जलरहित द्रव से फाँयी हुई सीर से ऊपर पटल के समान होती है ।

आमाश्वर देवताओं की वायु अधिक होने के कारण उनका विनाश नहीं होता है उनकी उत्पत्ति देवताओं से च्युत होकर नीचे की ब्रह्म-भूमियों में होती है और उन ही में से कुछ ब्रह्मा अपने कर्म के अनुसार मनुष्य भूमि में उत्पन्न होते हैं । वे ब्रह्माओं के रूप में नहीं बल्कि मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं । वे प्रभाववान् स्व आकाश में विवरण करने वाले होते हैं। उनका बाह्य ही प्रति बाह्य होता है।

उपर्युक्त प्रकार की सृष्टि ताम्बन्धी धारणा दीर्घ निराय के 'पाणिन सुत्त' एवं 'जगसुत्त' से मिलती मिलती है। वहाँ कहा गया है -

सृष्टि प्रक्रिया

बहुत समय बाद जब सृष्टि प्रारम्भ होने लगी तो उस समय मनोमय पद्यों की उत्पत्ति हुई । उनकी स्थिति बाह्य पर ही थी । सृष्टि की उत्पत्ति के समय के मनोमय प्रतिमन्त्र और स्वयं प्रम से स्व आकाश में विवरण करते थे । ऐसे पद्यों को आमा-स्वर-सर्वतनिक कहा जाता है । बहुत समय बाद इस संसार का जब पुनः प्रलय होता है तो विवर्तमान लोक

१- अमि० की० पृ० १६१

वा० अनुरुद्ध (संस्कृतधम्म स्व रामसिंह)

अमि० पृ० पृ० १०२ पर उद्धृत

२- दी० नि० १, अ. ३८ पृ० २३

में जो सत्त्व उत्पन्न होते हैं वे वहाँ से च्युत होकर ब्रह्मविमान में उत्पन्न होते हैं । उनको 'सुखा' कहा जाता है । कुछ समय बाद दूसरे प्राणी भी वहाँ उत्पन्न हो जाते हैं । जो प्राणी वहाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसके मन में यह विचार आता है- 'मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, अनभिभूत, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर-कर्ता, निर्माता, द्रष्टा स्वामी और भूत तथा मविष्य में उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पिता हूँ, मैं ही इन प्राणियों को उत्पन्न किया है। मेरे ही मन में यह विचार सर्वप्रथम आया था, इसलिए दूसरे प्राणी यहाँ आये । जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए उनके भी मन में यह विचार आता है कि यह ईश्वर कर्ता ब्रह्मा महाब्रह्मा है । इसी ने हम लोगों को उत्पन्न किया है ।' जो प्राणी पहले उत्पन्न होता है वह अधिक वायुष्मान तथा अधिक सम्मानित होता है । जो पश्चात् उत्पन्न होता है वह अल्पायु और अपेक्षाकृत कम सम्मानित होता है । यही कारण है कि पश्चात् उत्पन्न होने वाला प्राणी उस काया को छोड़कर इस लोक में आता है। यहाँ आकर प्रवृजित हो जाता है और चित्त समाधि प्राप्त करने पर अपने समाहित चित्त में 'जाति को स्मरण करता है- जो यह ब्रह्मा है, जिस ब्रह्मा ने हमें उत्पन्न किया है वह नित्य ध्रुव, शाश्वत और निर्विकार है तथा जो हम लोग उसके द्वारा उत्पन्न किये गये हैं अनित्य, अध्रुव और मरणाशील है ।

यहाँ सर्वप्रथम प्राणी को जामास्वर स्वर्तनिक कहा है । प्रलय के समय उसका अन्त नहीं होता । अतः विशुद्धिमग्न एवं दीघनिकाय की धारणा विल्कुल एक जैसी है। दोनों प्रकार की धारणाओं में ब्रह्म विमान की बात बही गयी है। पहले प्राणी की उत्पत्ति 'ब्रह्मविमान' में होती है पश्चात् कर्मों के अनुसार उसके द्वारा ही उत्पत्ति मनुष्य लोक में होती है और इस प्रकार संसार की उत्पत्ति बागे बागे बढ़ती ही जाती है।

१- दी० नि० १. प. ३६ पृ० २३, २४

२- दी० नि० १. प. ४० पृ० २४

३- दी० नि० १. प. १० पृ० २४ पायिका सुत्त

पाणि निभायों में इस उत्पत्ति एवं विनाश की प्रक्रिया^{के} संवर्त विवर्त के नाम से जाना जाता है।

आचार्य अनुरुद्ध द्वारा रचित 'अभिधम्मसंगहो' में संवर्त विवर्त को वर्तमान कल्प के प्रभाव माना है। वर्तमान कल्प चार है -

- १- संवट्ट (संवर्त)
- २- संवट्टठायी (संवर्तस्थायी)
- ३- विवट्ट (विवर्त)
- ४- विवट्टठायी (विवर्तस्थायी)

उनमें से प्रलयकाल 'संवट्ट' (संवर्त) वर्तमान कल्प है । प्रलय काल के अनन्तर एवं सृष्टिकाल के पूर्व का मध्यकाल संवट्टठायी (संवर्तस्थायी) वर्तमान कल्प है तथा सृष्टिकाल के अनन्तर स्थिति काल विवर्त स्थायी वर्तमान कल्प है । उनमें संवट्ट कल्प (प्रलय काल) , त्रिविध होता है, जैसे जब अग्नि से प्रलय होता है तो उसमें तेजोसंवट्टकल्प (तेजः संवर्तकल्प) जब जल से प्रलय होता है, तो उसे आपोसंवट्टकल्प (अप्संवर्त कल्प) एवं जब वायु से प्रलय होता है तो उसे वायोसंवट्टकल्प (वायुसंवर्तकल्प) करते हैं। उनमें सात बार तेजो संवट्टकल्प होने के बाद एक आपोसंवट्ट कल्प होता है। अर्थात् प्रथम बार अग्नि से प्रलय , प्रलय के अनन्तर फिर सृष्टि, सृष्टि के अनन्तर फिर अग्नि से प्रलय इस तरह सृष्टि होकर ७ बार अग्नि का प्रलय और तदनन्तर आठवीं बार जब जल का प्रलय होते होते जब सातवीं बार जल का प्रलय होने के अनन्तर ७ बार अग्नि का प्रलय होता है तो प्रलयों की संख्या ६३ हो जाती है। तब चौसठवीं बार वायु से प्रलय होता है।

१- विसु० पृ० २८८ अनुरुद्ध (संवत्तधम्म) अमि० सं० पृ० ४६६ पर उद्धृत

२- विसु० २८८ , अमि० को० ३, १००, १०१ पृ० ४२०

आ० अनुरुद्ध (सं० रेवतधम्म एवं राम शंकर) अमि० सं० पृ० ४६८ पर उद्धृत

पालि निकायों में इस प्रकार के कल्पों की कही कल्पना नहीं की गयी । वहाँ संवत् विवर्त कल्पों की कल्पना की गयी है ।

‘जग्गज्जसुत्त’ में संवत्स-विवर्त का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बहुत समय बाद इस पृथ्वी का संवर्त्त होता है । उस समय मनोमय सत्त्वों की उत्पत्ति होती है। वे सत्त्व प्रतिमद्वा एवं आकाश में विचरण करने वाले होते हैं । उस समय पृथ्वी पर रस का प्रादुर्भाव होता है।

फिर कुछ समय बाद इस पृथ्वी पर विवर्त होता है । उस समय मनोमय सत्त्वों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि की उत्पत्ति के समय वे मनोमय प्रतिमद्वा एवं स्वयं प्रभु थे । उनकी स्थिति बाह्यार पर ही थी । ऐसे सत्त्वों को आनाखर संवर्त्तनिक कहा जाता है। उस समय पृथ्वी वन्यकार से युक्त हो जाती है। चन्द्र सूर्य का अवलोकन नहीं होता । मास, अर्द्धमास, ऋतु , संवत्सर कुछ नहीं दिखायी पड़ता । स्त्री, पुरुष तथा वन्य प्राणियों का उपस्थान होता है। बहुत काल के अनन्तर यह पृथ्वी जल में व्याप्त हो जाती है। उस समय दूध, मट्ठाण , मन्थन एवं मधु के समान पृथ्वी का मन्थ उष्ण होता है । वैसी नवनीत की वाकृति होती है ऐसा पृथ्वी का वर्णन होता है । मधु के समान पृथ्वी मधुर होती है। प्राणियों को इस मधुर रस के प्रति आस्वादन की इच्छा होती है । इस इच्छा के कारण लोक की उत्पत्ति होती है । पृथ्वी का बाधा भाग कठोर हो जाता है । पुनः कठोरता को प्राप्त करने के बाद तरह तरह के जंगली धान उत्पन्न हुए । पृथ्वी के रस भाव के रूप में परिवर्तित हो जाने पर वनस्पतियों का आविर्भाव हुआ और अनेकों प्रकार की वीणाधियों का निर्माण हुआ । अनन्तर

१- दी० नि० ४. ३. ६ भाग ३ पृ० ६६

यं कदाचि करदचि दीघरसज्जुनो

----- चिरं दीघमद्वानं तिष्ठन्ति ॥

२- दी० नि० ४. ३. १० , भाग ३ पृ० ६७ , समि० १०७, १०८ व. ३६ ति० पृ० ६३

पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ^१ ।

जब रस वृष्णा का संचार हो जाता है स्व पृथ्वी अपने आकार प्रकारों में परिवर्तित हो जाती है तो स्वयं प्रम सत्त्वों का वन्तर्धान हो जाता है। फिर पुनः बन्धकार हो जाता है। इस बन्धकार के कारण वृष्टि के ये आदिम सत्त्व अत्यन्त मयमीत हो उठते हैं। तब उनको लाहस देने के लिए पूर्व दिशा से ५० योजन परिमण्डलाकार एक प्रकाश पिण्ड उत्पन्न होता है। उस प्रकाश पिण्ड को 'लोकानां सूरमानं जनेतीति सुरियो' के अनुसार लोगों में सूर भाव उत्पन्न करने के कारण 'सूर्य' कहा जाता है। उस सूर्य के अस्त होने पर पुनः मयमीत उन लोगों में इस सूर्य के सदृश कोई अन्य प्रकाशपिण्ड हो तो अच्छा ही, ऐसा इन्द्र उत्पन्न होता है। उनके इस इन्द्र के अनुरूप ४६ योजन परिमण्डलाकार एक दूसरा प्रकाशपिण्ड उत्पन्न होता है। उस प्रकाश पिण्ड को अपने इन्द्र से उत्पन्न होने के कारण प्रारम्भ में 'इन्द्र-इन्द्र' ऐसा कहते हैं। बाद में वही शब्द विगड़ कर 'चन्द्र' हो जाता है^२। इस तरह चन्द्र स्व सूर्य का उत्पाद होने के अनन्तर उसके परिवार के अन्य नक्षत्र, तारा-गण आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। वे अपने अपने निश्चित मार्ग से आकाश में परिभ्रमण करने लगते हैं। इन चन्द्र स्व सूर्य के परिभ्रमण का दिन चैत्र शुक्ल पक्षा की प्रतिपदा माना जाता है। इस समय से लेकर रात्रि-दिन जान पड़ते हैं तथा क्रमशः पक्षा मास ऋतु स्व वर्षादि का प्रवर्तन होता है^३।

इस रसमयी पृथ्वी का उपभोग करने के बाद स्व

१- बी० नि० ४. ३. १० पृ० ६७

२- विष्णु० पृ० २६०, ६१^{अथ अनु०} (सैवत्त धम्म स्व राम शंकर) धर्मि० सं० पृ० ५०२

पर उद्धृत

३- बी० नि० ४. ३. १२, भाग ३ पृ० ६८ (सं० सैवत्तधम्म स्व रामशंकर)

धर्मि० सं० पृ० ४६१ पर उद्धृत

बहुत काल तक पृथ्वी की स्थिति हो जाने पर संवर्तभाव से स्थित रहने पर पृथ्वी के समस्त द्वीपों का पुनः विवर्त (विनाश) हो जाता है ।

पृथ्वी प्रारम्भ में कहीं ऊँची नीची इस प्रकार ऊबड़ खाबड़ रूप में रहती है। ऊपर वाले भाग को पर्वत , नीचे तल को नदी तड़ाग आदि एवं सम भूमि को मैदान कहा जाता है। इस प्रकार पर्वत नदी आदि की उत्पत्ति होती है ।

उपर्युक्त क्रम के अनुसार जल के धीरे धीरे सूखने से जब पृथ्वी का भाग निर्मित होता है तब उस पृथ्वी की सम्पूर्ण गहराई दो लाख चौबीस हजार योजन होती है। उसका ऊपर का आधा भाग (१ लाख २० हजार योजन) मृत्तिकामय तथा नीचे का आधा भाग पाषाणमय हो जाता है। इस पृथ्वी के नीचे ४ लाख ८० हजार योजन गहराई वाला एक अन्य जल का समूह होता है। वह जल द्रव न होकर बर्फ की तरह जमा हुआ होता है । जल का वह समूह इस पृथ्वी का वहन करता है। इस जल समूह को स्थिर रखने के लिए इसके नीचे ६ लाख ६० हजार योजन गहरा एक वायु समूह होता है। उस वायु के नीचे और कुछ न होकर केवल अनन्त अजटाकाश होता है। उसको निम्न अजटाकाश कहते हैं । तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायुक्त भूमि के ऊपर जो अजटाकाश होता है उसे उर्ध्व अजटाकाश कहते हैं ।

मनुष्यों की उत्पत्ति

सृष्टिकाल के प्रारम्भिक सत्त्वों द्वारा पृथ्वी के

१- विशु० पृ० २६०,६१ (स० रेवत्तधम्म एवं रामशंकर) अमि० स० पृ० ५०२

पर उद्धृत

२- दी० नि० भाग २ पृ० ८४, ८५ , अमि० को० ३. ४५, ४६ पृ० ३६३, ६४

अट्ठ० सा० पृ० १३, २४१

रस को खाने से तथा उनमें से कुछ लोगों में उनके प्रति आसक्ति बलवती होने से वे कुरूप हो जाते हैं तथा जिनमें रस तृष्णा अल्प मात्रा में होती है, वे सुरूप होते हैं। कुरूप लोगों की तुलना में सुरूप लोगों में रूपामिमान होने से पृथ्वी का रस भी सूख जाता है। जिससे रस पृथ्वी के स्थान पर 'भूमिपटपटक' (भूमिपटपटक) पड़ जाता है। मनुष्यों में उस भूमिपटपटक के प्रति भी तृष्णा आदि के कारण एक दूसरे के प्रति उपर्युक्त नय के अनुसार ईर्ष्या- आदि उत्पन्न होने से भूमिपटपटक के स्थान पर 'पदालता' की उत्पत्ति होती है। यहां रस पृथ्वी का परिवर्तन 'पूर्व' का नाश होकर नवीन का उत्पाद 'नहीं',

अपितु मनुष्यों के कर्मों से उत्तम रस का क्रमशः द्रास है। पदालता के अनन्तर अपने आप उत्पन्न होने वाले शालि का उत्पाद होता है। वह शालि भुसररहित होता है। उस शालि को ज्योतिष्पाषाण में रखने से अपने आप पाक हो जाता है। वह इतना मधुर होता है कि उसे खाने के लिए किसी अन्य व्यंजन की अपेक्षा नहीं होती। रस- पृथ्वी से लेकर पदालता तक के भोजन में मनुष्य के भीतर होने वाले पाचक तेजस् से सम्पूर्ण भुक्त पदार्थ का रस- रक्त के रूप में पाक हो जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। किन्तु जब शाल्यन्न का भोजन प्रारम्भ होता है तब वह पाचकतेजस् उस शालि का सम्पूर्ण पाक नहीं कर पाता, इस- लिए मनुष्यों में मल मूत्र की उत्पत्ति होती है। उन मल मूत्रों के उत्पन्न होने से उन्हें शरीर से बाहर निकालने के लिए मनुष्यों में मतेन्द्रिय एवं मूत्रेन्द्रिय का उत्पाद होता है। इन इन्द्रियों के उत्पाद के समय जो सत्त्व ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने से पहले स्त्री थे उनमें स्त्री योनि तथा जो पुरुष थे उनमें पुरुष योनि का उत्पाद होता है। विसदृश योनियों के देखने से सत्त्वों (मनुष्यों) में काम- राग की उत्पत्ति होती है। कामपरिदाह की शान्ति के लिए वे परस्पर मैथुन धर्म का आचरण करने लगते हैं। उन सत्त्वों में से कुछ वालसी पुद्गल कई दिनों के लिए शलियों का संग्रह करने लगते हैं और इस प्रकार उनमें लोभ प्रकृति का प्रादुर्भाव

होता है जिससे शालि की उत्तमता भी नष्ट होने लगती है । पहले जहाँ से शालि का ग्रहण किया जाता था वहाँ पुनः शालि का उद्भव होता था , किन्तु अब वहाँ पुनः शालि का प्रादुर्भाव नहीं होता । तब मनुष्यों ने अपने अपने दौत्र का विभाजन कर लिया तदनन्तर वे एक दूसरे के दौत्र में चोरी करने लगे । इस तरह उनमें परस्पर लड़ाई, भगड़े युद्ध तक होने लगे । इस प्रकार की अशान्ति से बड़ा कष्ट होने लगा । तब उन लोगों में से कुछ ने समाज पर शासन करने के लिए एक शासक चुनने का निश्चय किया । उस समय बोधिसत्त्व के सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण उन लोगों ने उन्हें ही सर्व सम्मति से अपना शासक चुना । वे सर्वसम्मति से चुने जाने के कारण, 'महासम्मत' दौत्र के दसवें भाग के भागी होने के कारण 'चात्रिय' तथा प्रजाओं का रंजन करने के कारण 'राजा' नाम से प्रसिद्ध हुए । उन महासम्मत बोधिसत्त्व को ही 'मनु' भी कहा जाता है और उनके शासन में रहने वाले तथा पुत्र की तरह प्रेम करने वाले सत्त्व मनुष्य कहलाये । इस प्रकार चात्रिय गोत्र की उत्पत्ति के अनन्तर 'ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणों' के अनुसार मन्त्रों का स्वाध्याय करने वाले ब्राह्मण गोत्र की उत्पत्ति हुई । तदनन्तर 'विसत्ति उपमुज्जतीति वैश्यो' के अनुसार काम गुणों का उपभोग करने वाले वैश्य उत्पन्न हुए । ये कृषि, वाणिज्य आदि से धर्मपूर्वक अपना जीविकोपार्जन करते थे । तदनन्तर 'सोचतीति सुद्धो' के अनुसार शोक करने वाले या व्याकुल रहने वाले शूद्र उत्पन्न हुए । ये स्वामियों की सेवा करते थे । ये हिंसा, सेवा आदि सभी प्रकार के कृद्ध्य कर्म करने वाले हुए ।

'मज्झिम निकाय' में कहा गया है कि समाहित चित्त से परिशुद्ध लाभ करने पर तथा समस्त वेश्यों के उपभोग के उपरान्त मनुष्य अनेकों प्रकार के पित्रे जन्म के अनुभवों को स्मरण करता हुआ चित्त को लगाता है और सहस्रों जातियों एवं सहस्रों संवर्त विवर्त कल्पों का अनुभव करता है । मैं अनेकों संवर्त विवर्तों में यहाँ पैदा हुआ था, इस नाम का था, इस गोत्र का था । इस

प्रकार का मेरा बाहार था । इस प्रकार सुख दुःख का अनुभव करता हुआ पूर्ण आयु के परिणाम के उपरान्त वहाँ उत्पन्न हुआ था , वहाँ से च्युत हुआ था वह इस प्रकार सोचता है । दिव्य चक्षु से देखने पर पता चलता है कि जब च्युति होती है तो सुमति दुर्गति को मनुष्य प्राप्त करता है । जो मनुष्य दुष्चरित होते हैं वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं और जो मनुष्य अच्छे चरित्र वाले होते हैं वे शरीर के भिन्न हो जाने पर सुगति लोक में उत्पन्न होते हैं ।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जब संवर्त होता है तो विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है और जब विवर्त होता है तो अनेकों प्रकार के जन्मों से मुक्त होकर प्राणी कर्मानुसार सुगति लोक से उत्पन्न होते हैं । संवर्त में सृष्टि का विनाश और विवर्त में सृष्टि का प्रकट होना ये दोनों प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं ।

डा० राधाकृष्णन् ने ' भारतीय दर्शन ' में संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ तर्क उपस्थित किये हैं। वहाँ प्रश्न यह उठाया गया है कि इस संसार की रचना शून्य या अस्त से हुई है और क्या संसार अन्त में शून्य में ही परिणत हो जायेगा । यद्यपि भगवान् बुद्ध की दृष्टि में जीवन के प्रवाह में स्वं इस संसार के चक्र में कोई स्थायित्व नहीं दिखायी देता । किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि संसार में शक्तियों की हलचल के अतिरिक्त और कुछ यथार्थ स्त है ही नहीं । महत्वपूर्ण प्रश्न उस आदि कारण के विषय में है जो कि संसार को गति में लाता है। किसने इसे गति में लाने की प्रेरणा दी । यदि मन एक प्रवाह है तो सम्पूर्ण रूप कोई ऐसी सत्ता भी है या नहीं

१- म० नि० ४ . ३ . २१ भाग १ पृ० ३०

“ तो स्वं समाहितं चित्ते परिसुद्धे परियोदाति ज्ञानगणौ

विगतपञ्चिक कम्मनिये ठिते जाने उज्जप्पते ---- वातापिनो पश्चित्तस्स विहरतो ।

जिसमें ये दोनों समवेत हों ? इस सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि संसार किस पर अवस्थित है , संसार का कारण- कार्य सम्बन्ध ईश्वर की रचना है अथवा किसी सारतत्त्व का विकास अथवा यह अपने ही अन्दर से प्राकृतिक रूप में हुई अभिव्यक्ति है ? कुछ भैवत घटनाओं को ही स्वीकार करते हैं । वस्तुयें परि-वर्तित होती रहती हैं । संसार में सत् कुछ भी नहीं है, सब कुछ क्रियमाण ही है^१ ।

संसार में दो प्रक्रियायें^२ संवर्त एवं विवर्त समय समय पर प्रकट होती रहती हैं। इनका कर्ता कोई महापुरुष होता है। इसका अवतार किसी विशेष समय में होता है। जब पृथ्वी में प्रकम्पन होता है, हवायें चलती हैं, हवामण्डलों के फोंकों से जब समस्त पृथ्वी के रहने वाले प्राणी सन्तप्त होते हैं, तथा किसी क्रुद्धिमान पुरुष का प्रादुर्भाव होता है । वह समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करता है और संवर्त विवर्त की समस्त क्रियाओं को समभाव से अवस्थित करता हुआ समस्त सृष्टि प्रक्रिया का संचालन करता है। इन उपर्युक्त विचारों की पुष्टि अणुत्तर निकाय के ' भूमिचाल वग्ग ' से होती है। इस वग्ग में निम्ना-वृत्त विचारधारकों को अभिव्यक्त करते हुए यह लिखा गया है कि - " इस महान् पृथ्वी में विभिन्न अवस्थाओं में भारी भूकम्प आते हैं । इस मयानक लोम-हर्षक भूकम्प से देव दुन्दुभियां हूद जाती हैं । मगवान् बुद्ध से आनन्द ने इस भारी भूकम्प का कारण पूछा - तब उन्होंने इसका उत्तर दिया - " आनन्द , यह पृथ्वी पानी पर स्थित है, पानी हवा पर स्थित है, हवा आकाश पर स्थित है, आनन्द । ऐसा समय आता है जब भारी हवा चलती है, भारी हवा के चलने से भूचाल आता है, यह भूकम्प का पहला कारण है । "

फिर आनन्द कोई क्रुद्धि प्राप्त चित्त विजयी भ्रमण या ब्राह्मण अथवा कोई महान् क्रुद्धि वाला, महान् प्रतापी देवता होता

१- द्रष्टव्य- राधाकृष्णन्- भारतीय दर्शन^{भाग १}, पृ० ३४५

२- अ० नि० प. ७. १० भाग ३ पृ० ३६६, ४००

है वह सीमित पृथ्वी संज्ञा की भावना किये होता है, असीम जल संज्ञा की । वह इस पृथ्वी को कंपाता है, हिलाता है, अच्छी तरह कंपाता है । आनन्द । यह भूकम्प का दूसरा कारण है ।

फिर आनन्द । जब बोधिसत्त्व तुष्णित लोक से च्युत होकर स्मृति सम्प्रजन्य युक्त हो माता की कोख में प्रवेश करते हैं, उस समय पृथ्वी कांपती है, हिलती है, डोलती है, चंचल होती है । आनन्द यह भूकम्प का चौथा करता है ।

फिर आनन्द । जब तथागत अनुपम सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त होते हैं उस समय यह पृथ्वी कांपती है, हिलती है, डोलती है, यह भूकम्प का पाँचवा कारण है ।

फिर आनन्द । तथागत अनुपम धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हैं, उस समय यह पृथ्वी कांपती है, हिलती है, डोलती है, चंचल होती है । आनन्द । यह भूकम्प का छठा कारण है ।

फिर आनन्द । जब तथागत स्मृति, सम्प्रजन्य युक्त होकर आयु संस्कार को सिधिल करते हैं, उस समय यह पृथ्वी कांपती है, हिलती है, डोलती है, चंचल होती है, यह भूकम्प का सातवा कारण है ।

फिर आनन्द । जब तथागत निरुपाधिशेष परिनिर्वाण धातु के अनुसार परिनिवृत्त होते हैं तो यह पृथ्वी कांपती है, हिलती है, डोलती है, चंचल होती है, आनन्द यह भूकम्प का आठवा कारण है ।

संवर्त विवर्त में उद्भव स्थिति एवं संहार ये तीन

क्रियायें होती हैं। संसार की उत्पत्ति एवं संहार कैसे होता है ? इन दोनों क्रियाओं का निर्देश पूर्व पृष्ठों में यथासम्भव करने का प्रयास किया गया है। संसार में जब अशुभ कर्मों का उदय होता है तो स्थिति में परिवर्तन होता है, अनेकों प्रकार के उत्पात होते हैं, उथल पुथल होते हैं। पृथ्वी में कम्पन होता है, एवं सारा जगत् विनाश की ओर उन्मुख हो जाता है। संवर्त एवं विवर्त प्रक्रियाओं का वर्णन पालि निकायों में स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। पृथ्वी का कांपना, भयानक लोमहर्षक बांधी एवं तूफान का उठना, जन समाज में अनेक प्रकार की क्रान्तियाँ, रोग, शोक, परिताप इत्यादि दृश्य संवर्त के समय होते हैं। इन परितापों के कारण प्राणी तिलमिलाने लगते हैं और संसार का विनाश होने लगता है।

संवर्त विवर्त की गतिशील क्रियाओं में अनित्यता का प्रतिपादन किया गया है। अनित्यता की भावना संस्कारों पर आधारित है। संस्कारों के अनित्य होने से संवर्त एवं विवर्त की अनित्यता प्रमाणित हो जाती है। संस्कार अविद्या के कारण उत्पन्न होते हैं। इन संस्कारों को अविद्या के कारण न जानकर मनुष्य भटकता फिरता है और संसार के प्रति उस की आसक्ति बढ़ने लगती है। संवर्त एवं विवर्त की गतिशीलता में कैसे परिवर्तन होता है और कैसे इसकी अनित्यता का प्रतिपादन किया गया है तथा संवर्त विवर्त की अनित्यता को छोड़ कर उससे विमुक्त होते हुए विमुक्ति भाव का आलम्बन करना प्राणी मात्र का उद्देश्य होना चाहिए। इसकी पुष्टि निम्नांकित उद्धरणों द्वारा की गयी है।

संवर्त विवर्त के भाव में प्राकृतिक कारण

संवर्त विवर्त सम्बन्धी अनेक प्राकृतिक वर्णन अति-संयोजितियों से भरे पड़े हैं। इस वर्णन में सुमेरु पर्वत का वर्णन करते हुए अति-

संयोजितियों का प्रयोग किया गया है। इस पर्वत की ऊँचाई निस्सीम है। काल की गति एवं उसके प्रभाव के कारण सुमेरु पर्वत भी विवर्तित होने लगता है। समयानुसार उसकी प्राकृतिक रमणीयता नष्ट हो जाती है। प्रकृति में जो सौम्यता तथा दुरुहता उत्पन्न होती है उसमें वर्षा का अधिक महत्त्व है। वर्षा के न होने से समस्त पृथ्वी के प्राणी एवं वनस्पतियाँ सन्तप्त हो जाती हैं। इन वर्षानियों को निम्नांकित भाव से व्यक्त करते हुए जिन जिन विचारधाराओं का प्रणयन हुआ है उनमें पर्जन्य अर्थात् वृष्टि का होना निरन्तर समयानुसार अपेक्षित है।

ऋग्वेद निकाय के महावग्ग में मिच्छुओं को सम्बोधित करते हुए ब्रुव कहते हैं- मिच्छुओं यह जो सुमेरु पर्वतराज है, उसकी चौरासी हजार योजन की लम्बाई है, चौरासी हजार योजन तक महासमुद्र के बन्दर वह धँसा है, चौरासी हजार योजन तक महासमुद्र के ऊपर उठा है। मिच्छुओं ऐसा समय आता है जब कभी कभी दीर्घ काल तक, बहुत वर्षा तक सैकड़ों वर्षा तक लाखों वर्षा तक, वर्षा नहीं होती। मिच्छुओं वर्षा के न होने पर जितने भी बीज हैं, जितने भी पौधे हैं, जितनी बीजधियाँ, घास, वनस्पतियाँ हैं वे सूख जाते हैं, एक दम सूख जाते हैं, नहीं रहती हैं। मिच्छुओं संस्कार ऐसे अनित्य अध्रुव, अविवर्तनीय हैं। मोक्ष प्राप्त करना उचित है।

प्रकृति का अधिष्ठाता देव सूर्य है। सर्वतः विवर्त के संचालन में सूर्य को एक देवता मान कर इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। सूर्य तेजस् तत्त्व का अधिष्ठाता देव है। समय की गति के अनुकूल इसके

१- अ० नि० ७. ७. १ पृ० २३०

सिनेरु भिक्खु पव्वत राजा चतुरासी तियो जनस हस्सानि--

--- एवं अनिच्छो, भिक्खु जहसारा ॥

तेजस् तत्त्व उथल पुथल होते रहते हैं। इसके प्रकाश की अनन्त ज्वालायें स्फुरित होती रहती हैं। सूर्य का जो प्रथम रूप है वह सामान्य प्रकाश का प्रदाता है। प्रथम सूर्य इतना ही प्रकाश देता है जितने प्रकाश की आवश्यकता जगत् को होती है। किन्तु द्वितीय तृतीय तथा अन्य सूर्यों के प्रकाश में अत्यधिक प्रतप्तता होती है जो संवर्त विवर्त में प्रज्वलित होकर समस्त जगत् को प्रतप्त कर देते हैं। सूर्य की अनन्त ज्वालाओं का भीषण रूप अंगुत्तर निकाय में इस प्रकार व्यक्त किया गया है -

“ मिच्छुओं । ऐसा समय आता है जब कमी दीर्घ काल के बाद दूसरा सूर्य उदित होता है। मिच्छुओं । दूसरे सूर्य के उदित होने से जो छोटी छोटी नदियाँ होती हैं, जो छोटे मोटे तालाब होते हैं वे सूख जाते हैं। मिच्छुओं । संस्कार ऐसे अनित्य हैं। मोक्षा प्राप्त करना उचित है। ”

“ मिच्छुओं । कमी ऐसा समय आता है जब कमी दीर्घ काल के बाद तीसरा सूर्य उदित होता है। तीसरे सूर्य के उदित होने से जो महानदियाँ होती हैं वे सूख जाती हैं, एक दम सूख जाती हैं। संस्कार ऐसे अनित्य हैं, मोक्षा प्राप्त करना उचित है। ”

“ मिच्छुओं । कमी ऐसा समय आता है जब दीर्घ काल के बाद चौथा सूर्य उदित होता है। चौथे सूर्य के उदित होने पर जब ये महान् सरोवर होते हैं, जिनसे ये नदियाँ निकलती हैं- जैसे अनोतप्त, सिंह प्रपात, रथकार, कर्णमुष्ट, कुणाल तथा मन्दाकिनी वे सूख जाती हैं वे उष्णता को प्राप्त होती हैं। ”

संवर्त विवर्त के कारणों में विभिन्न उत्पात होते हैं। उत्पात जनित परिणाम क्या होते हैं और तत्फलस्वरूप संवर्त विवर्त में किस प्रकार की घटनायें घटित होती हैं। इनका विहंगम रूप प्रस्तुत किया गया

है। इन वर्णनों में संवर्त विवर्त की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। पृथ्वी, महापृथ्वी के रूप में, समुद्र महासमुद्र के रूप में तथा पर्वत महापर्वत के रूप में संवर्त के समय दिखायी देने लगते हैं। उस समय पर्वत के शिखर कई हजार योजन तक फैले होते हैं जिनका परिच्छेद अत्यन्त दुष्कर है।

संवर्त विवर्त अनन्त है। पृथ्वी मण्डल अनन्त है। अनन्त आकाश अनन्त विशाल के रूप में प्रतिष्ठित संवर्त विवर्त है, जिसके कारण, इसका आदि कब हुआ ? अन्त कब हुआ ? यह बताना कठिन है।

इस प्रकार बौद्ध सृष्टि विद्या में प्रलय फिर उत्पत्ति, उत्पत्ति, फिर प्रलय इस प्रकार संसार चक्र चलता रहता है।

सृष्टि विद्या के रहस्यों का प्रतिपादन करना इस परिच्छेद का लक्ष्य रहा है। संसार के सम्बन्ध में जितना भी विवेचन किया जाय उसका अन्त नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य से कहा गया है-

“ अन्तङ्गीयं भिक्षवे संसारो,
पुब्बा कोटि न पञ्जायति ॥ ”

अष्ट अध्याय

लोक-वर्णन

लोक वर्णन

वेदों में तीन प्रकार के लोकों की कल्पना की गयी है- भूः , भुवः और स्वः । इसके बाद उपनिषद् युग में आकर महर्षि लोक की भी कल्पना की जाने लगी । किन्तु बौद्धों में जिन लोकों का वर्णन किया गया है उनमें और वैदिक लोकों के नामों में अन्तर है । बौद्धों में तीन लोकों की कल्पना की गयी है -

१- काम भव

२- रूप भव

३- अरूप भव

भव का तात्पर्य है संसार । इन तीनों भवों को कामावचर लोक, रूपावचर लोक, अरूपावचर लोक या काम धातु , रूप धातु और अरूप धातु भी कहते हैं ।

उपर्युक्त त्रिधातुओं के सन्निवेश या संरचना के सम्बन्ध में बौद्धों में दो प्रकार के मतों का उल्लेख मिलता है ।

१- तिर्यक सन्निवेश

इस मत के अनुसार त्रिधातु एक दूसरे के ऊर्ध्व भाग में स्थित है । अर्थात् एक धातु दूसरी धातु के ऊपर की ओर स्थित है, उसके दायें बायें की ओर नहीं ।

१- ध० स० २, पृ० १४७ रूपाण्डसुत्त

२- ध० स० नि० १२, २, ३ , अ० नि० ३, पृ० ६७ आनन्दवग्गोसुत्त

२- अमि० को० पृ० २६४

कामावचर लोक

कामावचर लोक ज्वीचिनिरय की नीच की सीमा को पार कर ऊपर (देवलोक) परनिर्मितवशवत्ती, देवता के निवास स्थान की बीच की भूमि के भीतर, रूप , वेदना , संज्ञा , संस्कार विज्ञान से सम्बन्धित है^१। इस धातु के अन्तर्गत नरक लोक, प्रेत लोक , तिर्यक् लोक, मनुष्य लोक तथा इः प्रकार के कामावचर देवताओं का लोक तथा इन लोकों के निवासी समाहित हैं^२।

नरक लोक में आठ स्थान, मनुष्य लोक में चार द्वीप स्थान एक प्रेत स्थान, एक तिर्यक् स्थान तथा इः देवस्थान- इस प्रकार कुल २० स्थान काम धातु में अन्तर्मुक्त हैं।

क्योंकि इस धातु के निवासी सत्त्वों में बाह्यार तथा मैथुन की कामना पायी जाती है इसलिए इस धातु को काम धातु भी कहते हैं तथा इसके निवासियों को कामभूमिक या कामावचर।

रूपावचर लोक

ब्रह्मलोक की सीमा पार करके, ऊपर आठ देवताओं के निवास स्थान को पार करके उसके भीतर साक्षात्कारकृत सम्मि-

१- विमर्ग १८. ४. ११४ पृ० ५०२

२- धर्म० को० ३. ९

नरकप्रेत तिर्यक्षो मानुषाः षड् दिव्यैकसः ।

कामधातुः स नरक द्वीपमेव विरंतिः ॥

लित्ति रूप से कार्य में लगे हुए चित्त और चेतसिक धर्मों से युक्त होकर जन्म ग्रहण करते हैं ऐसी भूमि कामावचर लोक कहलाती है ।

अरुपावचर लोक

आकासनज्वायतन-देव लोक के नीचे समीप की सीमा पार करके ऊपर नेवसज्जानासज्वायतन लोक के पास भीतर घूमते हुए सम्मिलित रूप से कार्य में लगे हुए चित्त एवं चेतसिक धर्मों से युक्त होकर जन्म ग्रहण करने वालों की भूमि को अरुपावचर लोक कहते हैं ।

रूप का अभाव होने के कारण इसे आरूप्य धातु भी कहा जाता है। पुनश्च इस धातु में स्थान नहीं है^३ । अर्थात् रूपावचर, देवलोक, मनुष्य लोक, नरक लोक जैसे कोई स्थान विशेष इस लोक में नहीं है। बल्कि यह धातु रूप धातु तथा काम धातु में यत्र तत्र विसरा हुआ है । जिस स्थान में समापत्ति (जो आरूप्योपपत्ति का उपपाद करती है) से समन्वागत वायव्य का मरण होता है उस स्थान में उक्त उपपत्ति की प्रवृत्ति होती है और इस उपपत्ति के अन्त में अन्तरामय का उत्पाद होता है जो (कामधातु या रूप धातु में) जन्मान्तर ग्रहण करता है ।

उपपत्तिवश आरूप्य धातु चार प्रकार की होती

१- विमंग १८. ४. ११६ पृ० ५०२

२- विमंग १८. ४. ११८ पृ० ५०३

३- अमि० को० ३. ३

४- अमि० पृ० २६०

आकासनज्वायतन-देव लोक के नीचे समीप की सीमा पार करके ऊपर नेवसज्जानासज्वायतन लोक के पास भीतर घूमते हुए सम्मिलित रूप से कार्य में लगे हुए चित्त एवं चेतसिक धर्मों से युक्त होकर जन्म ग्रहण करने वालों की भूमि को अरुपावचर लोक कहते हैं ।

हैं -

- १- वाकाशान्त्यायकन
- २- विज्ञानान्त्यायकन
- ३- अविचिन्त्यायकन
- ४- नैवसंज्ञानासंज्ञायकन

ये चारों आयकन एक दूसरे से क्रमशः ऊर्ध्व हैं, किन्तु इनमें स्थान या देसकृत उत्तर या अधर भाव नहीं है। इस लोक में रूप का अभाव होने से सत्त्वों की चित्त सन्तति रूपावचरों की भाँति न तो रूप पर आश्रित है और न कामावचरों के समान काम भोग पर। वरन् उनकी चित्तसन्तति निकाय और जीवितेन्द्रिय पर आश्रित है^१।

रूप धातु में १७ स्थान हैं। इन स्थानों में १७ प्रकार के रूपावचर देवता निवास करते हैं। उनके नाम तथा ध्यान भूमियाँ इस प्रकार हैं -

१- महाब्रजा)	प्रथम ध्यान लोक (ब्रह्मलोक)
२- ब्रह्मपुरोहित)	
३- महाब्रजा)	द्वितीय ध्यान लोक
४- परीत्ताम)	
५- अप्रमाणात्म)	
६- आभास्वर)	तृतीय ध्यान लोक
७- परीत्तशुभ)	
८- अप्रमाणशुभ)	
९- शुभकृत्स्न)	

१०- अनम्रक)	चतुर्थ ज्ञान
११- पुण्यप्रसव)	
१२- बृहत्फल)	
१३- अवृह)	चतुर्थ ज्ञान लोक शुद्धावास
१४- क्लाप)	
१५- सदृश)	
१६- सुदर्शन)	
१७- अकनिष्ठ)	

काममव में दो वासभूमियाँ हैं- अपायभूमि तथा कामसुगति भूमि । अपायभूमि में भी निरय, निरच्छान योनि, पेट्तिविषय तथा अक्षुर काय नामक चार उपभूमियाँ हैं। इसी प्रकार कामसुगति भूमि में मनुस्स, चातु-
म्महाराजिक, तावतिन्त, याम, तुण्णित, निम्नानरति तथा परिनिम्मितवसवत्ती नामक सात लोक या उपभूमियाँ हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर १७ भूमियाँ हैं ।

संसार प्राणियों का अधिष्ठान है, जिसे काम-
नालों का लोक कहा जाता है । इस लोक में इच्छाये जन्म लेती हैं और अनेकों
इच्छाओं के कर्मों के फलस्वरूप प्राणियों की विभिन्न प्रकार की गतियाँ मिलती
हैं और इन कर्मों के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य को जन्म जन्मान्तरों में भ्रमण
करना पड़ता है। कर्मों के परिणाम स्वरूप जीवों की जिन गतियों की कल्पना
की गयी है उनका वर्णन पालिनिकायों में इस प्रकार है-

१- मल्लि तिवारी - नि० क० पृ० २६०

वाचार्थ वनुरुद्ध (सं० खेत्त धर्म एवं रामशंकर) अमि० सं० पृ० ४८३,

सं० नि० ४०, ५, ५, ६, ७ भाग ३

पाँच गतियाँ

संसार की गति परम्परा के आधार पर लोकों

का निर्माण निश्चित दिया गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के फलस्वरूप ही अनेक प्रकार की गतियों को प्राप्त होते हैं। मार्ग-प्रतिपदा तथा अन्य कर्म के फलोपभोग के आधार पर अपोगति, ऊर्ध्वगति और न्ययगति मिलती है। शरीरान्तर होने पर भी ये गतियाँ मिलती हैं।

ये गतियाँ इस प्रकार हैं -

नरक गति
प्रेत गति
तिर्यक् गति
मनुष्य गति
देवगति

दुष्कर्मों के आधार पर ही तिरच्छान गति एवं प्रेत गति मिलती हैं और सुकर्मों के आधार पर मनुष्य एवं देव गति। चार प्रकार की योनि अर्थात् अण्डज, जरायुज, संस्वेदज, उपपादुक में भ्रमण करता हुआ मनुष्य गतियों को प्राप्त होता है।

इन पाँच प्रकार की गतियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पाँच प्रकार के लोक हैं। इन प्रकारों में मनुष्य लोक प्रेत, लोक, तिरच्छान लोक, नरक लोक एवं स्वर्गलोक हैं।

१- म० नि० १२, द. १३ भाग २ पृ० १०४ महासीहनादसुत्त

२- म० नि० १२, द. १३ भाग २, अ० नि० द. ६, ६ भाग ३

मनुष्य लोक

मनुष्य योनि बुद्धि के वाजार पर ही मिलती है ।
 बुद्धि मनुष्य पशु योनि में बुद्धि तिरस्कृत योनि में और बुद्धि देवयोनि में उत्पन्न होते हैं ।

सत्त्वों के धर्म के बाधित्व से नीचे वायुमण्डल की उत्पत्ति होती है जो वायु में प्रतिष्ठित है। इसका भेदन १६ लाख योजन है । यह वायु मण्डल अत्यन्त कठोर है और वज्र से भी क्षतिग्रस्त नहीं होता । इस वायुमण्डल के पन्नागत जल मण्डल है जिसका व्यास ११ लाख २० हजार योजन है । यह जलमण्डल सत्त्वों के कर्माधिपत्य से वर्णों के रूप में वर्तता है^२ । इस जल मण्डल के ऊपर तीन लाख बीस हजार योजन व्यास वाला भूमण्डल है। यहाँ मनुष्यों का निवास स्थान है^३ ।

दीर्घ निकाय में कई स्रष्टा वर्णों की वायु वाले मनुष्यों की उत्पत्ति की कथा बतायी है। कहीं बालीस स्रष्टा वर्ण तथा बीस स्रष्टा वर्ण की वायु वाले मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन है। कहीं दो सौ, कहीं चार सौ, तीन सौ वर्णों के भी मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में कहा गया है कि ८० हजार वर्ण की वायु वाले मनुष्य में तीन प्रकार की बाधाएँ होती हैं^४ ।

१-म० नि० १२, ६, १३ भाग २ पृ० १०४ महासीहनादसुत्त

२- दी० नि० २, १०७ भाग १ 'यसं वानन्द महापत्नी उदके पतिटिक्ता उदकं वाते पतिटिक्ता । वातो वायुसट्ठो होति होति ।

३- दी० नि० २, १०७ द्रष्टव्य- डा० प्रकाश मास्तीय सृष्टि विद्या पृ० ६७

४- दी० नि० ३, ४, २८, २६ भाग ३ पृ० ५६ चक्रवर्तिसुत्त

५- म० नि० ५, १, १ भाग १ पृ० ३३

होना ।

४- वीर्य अंगुल अर्थात् पड़ी अंगुलियों वाला

होना ।

५- मृदु तरुण हस्त पाद का नवत होना ।

६- पाल हस्त पाद अर्थात् अंगुलियों के बीच
वत्सल के पीं की भाँति कमड़ा होना ।

७- हस्ससपद- पैरों का ऐसा होना जिसके ऊपर
गुल्फ अवस्थित हों ।

८- रणजिघ- मृग के समान पिण्डुली भाग का
होना ।

९- बाजानुबाहु- भुजायें इतनी लम्बी हों कि
सीधे सड़े होने पर घुटनों को स्पर्श करें ।

१०- कोणाच्छादितवस्तिगह्व अर्थात् पुरुषो-
न्द्रिय का कोणगत होना ।

११- सुवर्ण वर्ण तथा कंचन सदृश त्वचा वाला
होना ।

१२- सूक्ष्म श्वि अर्थात् ऊपरी त्वचा इतनी
दृढ़ हो कि उसे पर मल न चिपक सके ।

१३- एकैक लोम - एक एक रोम कूप में एक एक
रोम का होना ।

१४- ऊर्ध्वाग्रलोम- कंचन सदृश नीले एवं कुण्डलि
लोमों का होना, जिनके अग्रभाग ऊपर की ओर उठे हों ।

१४- ब्रह्म-कृष्ण गात्र अर्थात् लम्बे एवं सीधे शरीर का होना ।

१६- सप्त- उत्सव्- सातों वर्गों को पूर्ण आकार युक्त होना ।

१७- सिंह-पूर्वादि-काय- पूर्वादि -काय वक्षा स्थल आदि का सिंह के समान होना ।

१८-

१९-

२०- सन्वर्त स्वन्ध समान परिमाण का कन्धा वाला होना ।

२१- रसग- सगी- अर्थात् सुन्दर शिशुओं से युक्त होना ।

२२- सिंह हनु- सिंह सदृश ठोढ़ी वाला होना ।

२३- चौवालीस दन्त

२४- समदन्त- दांतों का समान होना

२५- अविवरदन्त- दांतों का विवर रहित होना ।

२६- सुशुक्लदाद - अतिशुभ्र दाढ़ वाला होना

२७- प्रभूत- धिक्व- लम्बी जीभ वाला होना

२८- ब्रह्मस्वर- कर्वाक पक्षी के समान मृदु एवं गम्भीर स्वर वाला होना ।

२९- वामिनील नेत्र- कतसी पुष्प सदृश नील नेत्र का होना ।

३०- गोपक्ष्मा- जिसकी पल्लों गाय की पल्लों जैसी हों ।

३१- ऊर्णा- मौहों के बीच श्वेत र्व मृदु कपास
सदृश रूम पंक्तियों का होना ।

३२- उष्णीष शीर्ष- बंधी पगड़ी जैसे आकार
का शिर वाला होना ।^१

इस प्रकार ३२ लक्षणों से युक्त मनुष्य महापुरुष
कहलाने का अधिकारी होता है।

जातक निदान कथा के अनुसार कोई मनुष्य यदि
बुद्धत्व प्राप्त करने की कामना करता है तो उसकी इस इच्छा की पूर्ति मनुष्य
योनि में उत्पन्न होकर ही पूरी हो सकती है। नाग, गरुड़ या देवता की यो-
नियों में वह पूरी नहीं हो सकती । स्त्री, नपुंसक या स्त्री पुरुष दोनों के लिंग
से वपगत पुरुष की भी कामना सिद्ध नहीं हो पाती है। पुरुष होने पर भी
उस जन्म में बुद्धत्व के लिए हेतु के रहने पर भी बुद्ध के विद्यमान रहने पर, उनके
निकट जाकर इच्छा करने वाले की कामना पूरी होती है। बुद्ध के निकट उसकी
कामना करते हुए भी मिथु भाव से युक्त होने पर ही इच्छा पूर्ण होती है,
गृहस्थ के रूप में रहने पर नहीं । गुण से युक्त होने पर भी जिसने अपना जीवन
बुद्ध के लिए अर्पित कर दिया है, उसके इस त्यागपूर्ण सेवा से प्राप्त अधिकार से
वर्हत्व की कामना सिद्ध होती है, अन्य की नहीं । (उक्त प्रकार के) अधिकार
से युक्त होने पर भी जिसे बुद्धत्व की प्राप्ति में सहायक धर्मों के प्रति प्रबल इच्छा
महान् उत्साह, प्रयत्न तथा पर्येषणा हो, उसी की कामना सिद्ध होती है, अन्य
की नहीं ।^२

१- दी० नि० १. ४. २० भाग २ पृ० १५

२- दी० नि० ७. १. २ पृ० ११० लक्षण सुत्त

कथावत्थु ४. ४० पृ० २५५

२- द्रष्टव्य- डा० महेश तिवारी- जातक निदान कथा पृ० ३४, ३६

तिर्यक् लोक

तिर्यक् लोक के तीन स्थान हैं- भूमि, जल एवं वायु । इनका मूल स्थान महीवधि है। इसके अतिरिक्त यह अनेक तिर्यक् सत्त्व मनुष्यों के साथ भी रहते हैं^१ ।

तिर्यकों के वाकार प्रकार अस्थिर हैं जो कल्पना के अनुसार घटते बढ़ते रहते हैं। तिर्यक् जीवों की वायु अधिक से अधिक एक कल्प होती है^२ ।

तिरिच्छान गति मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है। दुर्गति के उपभोग के समय जब मनुष्य तिरिच्छान योनि में उत्पन्न होता है तो उसे तीव्र वेदनायें अनुभव होती हैं। अग्नि की ज्वाला में उसे जलना पड़ता है^३। दिव्य चक्षु से देखने के उपरान्त ही पता चलता होगा कि उनकी तिरिच्छान योनि में जन्म लेना पड़ा है।

प्रेत लोक

प्रेतों का स्थान जम्बू द्वीप से ५०० योजन नीचे है। यह स्थान ५०० योजन गहरा और इतना ही लम्बा एवं चौड़ा है^४।

यह गति भी दुष्कर्मों के आधार पर ही मिलती है। जो प्राणी प्रेत गति को प्राप्त होते हैं वे वृक्षादि की छाया का आश्रय लेकर पत्र-पुष्प रहित वृक्षों के नीचे बैठकर कटु वेदनायें अनुभव करते हैं। ये गति आसवों तथा भवासवों के कारण उत्पन्न होती है। इन दुर्गतियों से बचने के लिए

१- अमि० को० पृ० ३७८

२- अमि० को० ३, पृ० ३३ कल्प तिरिच्छाप्रितानामासाहसतपंचकम्

३- म० नि० १२, ६, १४ भाग १ पृ० १०५ महासिंहनाद सुत्त

४- द्रष्टव्य- डा० मकाश - भारतीय सृष्टि विद्या पृ० ६७

शील, समाधि और प्रज्ञा भावना की आराधना करना चाहिए जिससे दुर्गति से विमुक्ति मिले।^१

साधारण कौटि के पाप करने वाले को ही प्रेत लोक में जन्म लेना पड़ता है^२। जो लोग दान देने में हिचकिचाते हैं उन्हें शुभिमुखी होना पड़ता है और जो दान देकर पड़ताते हैं उन्हें विष्टा मन्त्री होना पड़ता है। जो लोग क्रोध के आवेश में दूसरों को अपशब्द कहते हैं वे लोग प्रेत होते हैं और उनके कण्ठ में ज्वाला जलती रहती है^३। प्रेत लोक में कुछ अर्द्ध देवयोनियाँ भी हैं। इस गति में जन्म लेने वालों को पंचगति दीपन कहते हैं। ये लोग एक प्रकार की देव जाति से ही सम्बन्धित माने जाते हैं। इनको स्वर्ग में रहने का अधिकार नहीं है। प्रेतों की भी कई जातियाँ होती हैं।

नरक लोक

त्रिपिटकों में नरक लोक की चर्चा स्पष्ट रूप से कहीं नहीं मिलती। ऐसे वर्णन अवश्य मिलते हैं जिन्हें नरक की कल्पना की आधारभूमि कहा जा सकता है।

बौद्ध जगत् की व्यवस्था के अनुसार सबसे नीचे की वास भूमि को सिंध्य या नरक लोक कहते हैं। नरक को पापियों का स्थान बताया गया है जहाँ वे विविध प्रकार की यातनाओं को भोग कर दुःख जीवन व्यतीत करते हैं। नरक मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं- उष्ण नरक तथा शीत नरक। उष्ण नरक आठ प्रकार के कहे गये हैं-

१- संजीव- यहाँ दुःखामतिप्त प्राणी को पुनः

१- म० नि० १२, ६, १३ भाग १ पृ० १०६, १०७

२- स्नसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथीक्स वास्त्यूम ११ पृ० २३

३- वही

जीवित कर यातनायें दी जाती हैं ।

२- कालसुप्त- यहाँ कालि वर्ण के विष्णाक्त सूत्र से पाप कर्मों को काटा जाता है ।

३- संघात- यहाँ पापी को फर्तीय चट्टानों पर पटका जाता है।

४- रुस- यहाँ व्यथा के कारण सर्वदा दुःखार्तों का रुदन सुनायी पड़ता है।

५- महारुस- यहाँ दुःखार्तों के महारुदन की ज्वनि सुनायी पड़ती है।

६- तपन- यहाँ पापकारी को अग्नि दाह से तप्त किया जाता है।

७- फतापन- यहाँ भयंकर ज्वाला के बीच पापी सन्तप्त होता है।

८- अवीचि- यहाँ एक साथ कई प्रकार की यातनायें दी जाती हैं। नरकों में सबसे दुःख स्थान यही समझा जाता है। ये सभी नरक एक के ऊपर एक स्थित बतलाये जाते हैं।

शीत निरय के दस प्रकार कहे गये हैं - जो निम्न-लिखित हैं - १० अक्वुद , निरक्वुद , अहट्ट , अट्ट, जवब, कुमुद , सोगन्धिक, उम्पल, पुण्डरीक तथा पदम । ये सब ^{रुक्म ऊपर एक} स्थित हैं । प्रत्येक नरक सुदृढ़ प्राचीरों

१- डा० महेश तिवारी - नि० क० पृ० २५१

द्रष्टव्य- डा० धम्मरत्न - सम्मोहन विनोदनी नाम विभंगअट्ठकथा

और भी देखिए- भदन्त रेवतधम्म- अभिधम्मत्थसंगहो, भाग २ पृ० ४७१

२- स० नि० ई. १०. १३ भाग १ पृ० १५२

से घिरे हैं। इन प्राचीरों में लगे चार प्रकार के कुण्ड होते हैं। वे हैं अग्नि-कुण्ड, कुम्भ-कुण्ड, कुण्ड (अथ कुण्ड) सुरमग (तीक्ष्ण तार से युक्त मार्ग) तथा वैतरणी नदी। इनके नाम मात्र से ही इनके दुःख स्थान होने की ज्वनि मिलती है^१।

मज्झिम निकाय में नरक लोक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य कामनाओं में लिप्त रहते हैं उनको मरने के पश्चात् दुर्गति मिलती है एवं नरक लोक में रहते हुए उन्हें विभिन्न प्रकार की दुःख यातनाओं को भोगना पड़ता है^२। जो लोग माता पिता का वनादर करते हैं उनको निरयपालयमराज की बाहों में देते हैं^३। यमराज उसे कटोर दण्ड देते हैं^३। यमराज सर्वप्रथम पापी मनुष्य से प्रश्नों का उत्तर मांगते हैं और उसके पापों का कारण पूछते हैं और कहते हैं कि क्या तुम ने मनुष्यों के प्रथम देवदूत को नहीं देखा उसके वादियों का पालन नहीं किया। पुरुष के मना करने पर यमराज कहते हैं हे पुरुष। क्या तुमने ऐसे किसी व्यक्ति को देखा है जिसकी आयु ८०, ६० वर्ष की है, जिसके भोग के सारे साधन जीर्णता को प्राप्त हो चुके हैं, जो काँफला हुआ ऊँची का सहारा लेकर चलता है जिसका जीवन चल गया है। पुरुष कहता है कि देखा है तो फिर यमराज कहते हैं- क्या तुम्हें यह नहीं मालूम ~~रही~~ था कि यह अवस्था मेरी भी होगी। इसलिए मैं शरीर से वांछी से मन से ऊँचे कार्य करूँ। वह पापी पुरुष उत्तर देता है, “^४ मैं भी अवश्य नाश को प्राप्त होऊँगा।” प्रमाद के कारण ही ऐसा हुआ। तब यमराज ने कहा प्रमाद के कारण तुम यही भूल गये कि माता का वनादर

१- म० नि० ३०, २, ६ भाग ३ पृ० २५७

२- म० नि० २, २, २ भाग १ पृ० ३७७ ब्रह्मसमाधान सुत्त

३- ज० नि० ३, ४, ६ भाग १ पृ० १२८ देवदूत सुत्त

४- ज० नि० ३, ४, ६ भाग १ पृ० १२८ देवदूत सुत्त

नहीं करना चाहिए, पिता की आज्ञा माननी चाहिए, बहन के, भाई के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। ज्ञातः तुम नरक में जाकर पाप का फल भोगी। इसी प्रकार यमराज पापी मनुष्य से द्वितीय एवं तृतीय देवदूत के विषय में पूछते हैं कि “क्या तुमने ऐसे पुरुष को नहीं देखा जो रोग से ग्रस्त है, अत्यन्त मृदु है।” पुरुष कहता है देखा है प्रमाद के कारण ही ऐसा हुआ। यमराज कहते हैं तुमने प्रमाद के कारण ही माता की माता के समान, पिता की पिता के समान, मित्र की, ब्राह्मणों की वह स्थान नहीं दिया जो देना चाहिए था। तुमने पापों को किया ज्ञातः अपने पापों का मोदन करो।” उसके बाद तृतीय देवदूत से सारी जानकारी उपलब्ध करने के बाद यमराज चुप हो जाते हैं, और निरयपालों से पंच बन्धन नामक कार्य करने को कहते हैं। वे निरयपाल हाथ में लोहे का कील लेकर उसके हृदय में चुभोते हैं जिससे मनुष्यों को तीव्र वेदना होती है। वे निरयपाल कुदाल से पापी मनुष्यों का सिर काट डालते हैं। वे उसके सिर को जल्की हुई कुम्भी में डाल देते हैं। वे उसे महानरक में फेंक देते हैं। इस अव-
तरण में नरक सम्बन्धी धारणा की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। वे निरयपाल पापी मनुष्यों को जल्ती हुई, दहकती हुई भूमि पर पटक देते हैं। वे उनको जंगारों से जो पर्वत पर पटक कर मारते हैं फिर उनके पाँव ऊपर करके उनके सिर पर लोहे की कुम्भी मारते हैं। जिस वेदना को अनुभव करता हुआ वह समुद्र के भाग के समान एक बार ऊपर जाता है एक बार नीचे और एक बार तिरछे। इस प्रकार उसको अत्यन्त कठोर यातनारं भोगनी पड़ती है।

उपर्युक्त नरक वर्णन से ज्ञात होता है कि इस संसार में रह कर मनुष्यों को अपने माता पिता का आदर करना चाहिए, भाई बहन से प्रेम करना चाहिए, ब्राह्मण का सत्कार करना चाहिए तथा देवता को प्रसन्न रखना चाहिए, जो यह सब नहीं करता वह पाप का भागी है एवं उसे

नरक लोक में जाना पड़ता है।

बुद्ध निकाय के अनुसार नीच कर्म करने वालों को एवं अमृतवादियों को नरक लोक का सेवन करना पड़ता है। वे दोनों मरणा-
न्तर प्रेतों के सनान होते हैं।

नरक लोक का विस्तृत वर्णन जातकों में ही मिलता है। 'निमि जातक' में नरक लोक के रूप भिन्न प्रकार से चित्रित किये गये हैं जो निम्नलिखित हैं—

नरक लोक में वैतरणी नाम की एक नदी है, जो उबलती हुई पानी से परिपूर्ण है। उसका जल अग्नि सिखा के समान तपता है। इस नदी में बनेकों कांटों से भरी बेले हैं। इस नदी में दुःख से पीड़ित लोग तपते हैं। जीव लोक में जो पापी बलवान् हैं और दुर्बलों को कष्ट देते हैं वे रौद्र कर्म करने वाले पाप कर्म के परिपाक होने पर वैतरणी नदी में जाकर गिरते हैं। वैतरणी नदी से जागे की ओर जाने पर एक स्थान है, जहाँ अत्यन्त भय-भीत लाल वर्ण वाले चित्त कबरे कुत्ते पापियों का भक्षण करते हैं। वहाँ भयानक कौर भी रहते हैं जो मनुष्यों को ता जाते हैं। जो भी कंषूस, बुरी नीयत वाले पापी भ्रमण प्राणिजों का उपहास करते हैं, उन्हें वे कष्ट देते हैं। वे रौद्र कर्म करने वाले पाप कर्म के परिपक्व होने पर इसी प्रकार के कुत्तों द्वारा लाये जाते हैं।

जीव लोक में जो प्राणी सदाचारी पुरुष ब्रह्मा स्त्री को कष्ट देते हैं वे रौद्र कर्म करने वाले पापकर्म के परिपक्व होने पर जलते हुए शरीर से तप्त पृथ्वी पर जलते हैं और जलते ठनों से पीटे जाते हैं।

१- सु० नि० २०, ३०६ भाग १ पृ० ४५ निरखवग्गो

२- नि० जा० भाग ६ पृ० ११५ ये दुज्जसे जलवन्तो, जीव लोके विसन्ति ऐशेन्ति

३- नि० जा० ६ पृ० ११६
सुपाप धम्मा ते जुद्ध--- वैतरणी पतन्ति ।

इस संसार में जो पापी प्राणी धान में मूसा मिलाकर ग्राहकों को बेते हैं ऐसे प्राणियों के लिए नरक लोक में एक नदी है जिसके किनारे गहरे हैं और जिसका नाम सुन्दर दीर्घ है । इस नदी का जल तप्त रहता है। गर्मी के पीड़ित मनुष्य इसका जल पीते हैं, किन्तु उनकी प्यास नहीं बुझती, बढ़ती ही जाती है ।^१

जो पापी इस लोक में धान्य, धन, सोना, चांदी, बकरी, भेड़ादि की चोरी अथवा ढोंग से अपनी जीविका चलाते हैं ऐसे लोगों को प्राणों की अक्षति से तथा मातों से दोनों ओर से ठेका जाता है और वे दुरी तरह प्रवृत्त करते हैं । जो प्राणी इस लोक में बकरी, भेड़ादि पशुओं को मार कर उनका मांस बेचने के लिए दुकानों पर फैलाते हैं ऐसे पापियों के पाप कर्म फल पर उनकी गर्दन को बांध दिया जाता है और कुछ मनुष्य टुकड़े-टुकड़े हुए पड़े रहते हैं ।^२

जो प्राणी माता पिता अथवा अरहन्तों को पार कर पारायिका को प्राप्त होते हैं ऐसे प्राणियों के लिए रक्त और पीप से मरा हुआ दुर्गन्धपूर्ण तालाब है इसे घाम से तपे हुए बादमी पीते हैं ।^३

इस लोक में जो कुलांगनायें अत्यंत कर्म करती हैं, रति प्रीड़ा के लिए अपने पति को छोड़कर दूसरे के पास चली जाती हैं, वे पुरुष-पुरुष के साथ अपने चित्त को रमाकर ज्वलन्त पर्वतों द्वारा पीसी जाती हैं ।

१- नि० पा० ६ पृ० १२३

२- ,, ६ पृ० १२२, २३, २४

३- ,, ६ पृ० १२६ इलोक संख्या ६७, ६८

४- वही

इन नरकों के अतिरिक्त जातकों में एक उत्सव नामक नरक का भी उल्लेख आया है। जो मनुष्य क्रय विक्रय के स्थान पर जाकर, कीमत वर से क्रय वालों को हानि पहुंचाते हैं, धन के लोभ से तराजू की छण्डी मारना आदि कूट कर्म करते हैं और उसे ऐसे रिपारो हैं जैसेकि मरती मरने वाले मरती फलने के काँटे को । कूट कर्म करने वाले को ब्राह्मण नहीं मिलता । वह अपने कर्म से ही पुरस्कृत होता है । नरकपाल ताड़ वृक्षा के समान जलते हुए लोहेकी छड़ से ऐसे प्राणियों को पिछ्वा का भेदन करते हैं और उन्हें जलती हुई लोहे की पृथ्वी पर पटक पटक कर जंजीरों से पीटते हैं। वे ऐसी भूमि पर महलियों के समान तड़फ़ी है। उनके मुख से फेन गिरता है।^१

नारकीय यातनाओं के इन वर्णनों के ऊपर बौद्ध दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार के तर्क उपस्थित किये हैं । वे यह मत व्यक्त करते हैं कि नरक की यातनाओं का भोग करने वाले जो जीव हैं वे जिन यातनापूर्ण स्थानों में कष्ट भोगते हैं उन्हीं स्थानों में यातना देने वाले नरक पाल भी रहते हैं । जलते हुए अंगारों से परिपूर्ण तथा दुर्गन्ध से युक्त स्थानों में नारकीय भी रहते हैं और नरकपाल भी, किन्तु नारकीय जीवों को यातनायें होती हैं नरक-पालों को नहीं ।^२

स्वर्गलोक

देवताओं का लोक स्वर्ग लोक कहलाता है जो मनुष्य अच्छे कर्म करते हैं उनका निवास स्थान भी बौद्ध ग्रन्थों में स्वर्गलोक बताया गया है।

“ निमि जातक ” में स्वर्ग लोक का वर्णन इस

१- निमि जातक ६ पृ० १२७ श्लोक संख्या ६७, ६८

२- वही

३-डा० महेश तिवारी- विज्ञप्ति मात्र सिद्धि कारिका ६ पृ० ७

प्रकार है-

“ पुण्य कर्मों के आधार पर देवताओं की और मनुष्यों की दिव्य विमानों की उपलब्धि होती है। इसका वर्णन विमान-वत्सु में भी किया गया है जो कि सुद्ध निकाय के चार ग्रन्थों का समूह है। जो स्त्रियाँ पुण्य कर्म करती हैं उनके लिए अलग विमान होते हैं।

जो स्त्रियाँ जीव लोक में अतिथियों का आगमन समय जानकर उनका वैसा ही आदर करती हैं जैसे माता पुत्र का करती है, अपने त्याग के प्रताप से ही वे विमान में आनन्द मनाती हैं^१। उसी स्थल पर आगे कहा गया है-

जो मनुष्य इस लोक में पुण्य कर्म करते हैं जो सोणादिन्न गृहपति दानी होता है प्रजितों के लिए जो विहार बनवाता है वहाँ रहने वाले मित्राओं की अच्छी प्रकार से सेवा करता है, जो दान करता है, चतुर्विंशती, पंचदशी और अष्टमी तथा सप्तमी नवमी आदि को भी अष्टांग उपोषध व्रत का पालन करता है अपने त्याग तथा संयम के प्रताप से ही वह विमान में आनन्द मनाता है। नारी समूह के साथ वह चारों ओर घूमता है^२।

इस जीव लोक में जितनी भी नारियाँ सीखान् उपासिकायें हैं, दान में रत हैं, नित्य प्रसन्न रहने वाली हैं, सत्य और त्याग में रुचि रखती हैं, वे सब स्फटिक निर्मित सैकड़ों रत्न वर्ण रत्नमय स्तम्भों से युक्त, छोटी-छोटी घण्टियों के जल से घिरे हुए शिखरों से सुशोभित तथा वनस्पति और नृत्य गीतादि से युक्त विमानों में आनन्द मनाती हैं^३।

१- उक्कनिमि जातक ६, पृ० १३२

२- निमि जातक ६ पृ० १३२

सोणादिन्नो गृहपति रसदानपति बहू

इस जीव लोक में जिन सीत्वान उपासकों ने शान्त चित्त ब्रह्मों की मती प्रकार सेवा की, जिन्होंने उनके लिए वाराम, जलाशय, प्याऊ और चक्रमण स्थान बनवाये, शयनासन दिये, जो चतुर्दशी, पूर्णिमा पक्षा की अष्टमी और त्रयोदशी वादि को अष्टांगशील ग्रहण करके उपोसथ व्रत करते हैं वे अपने संयम तथा त्याग के कारण विमानों में घूमते हैं। ये विमान बिल्लौर से निर्मित रमणीय भूमि से युक्त एवं विभवत हैं। इनमें बालम्बर तथा मूर्धन्य का शब्द नृत्य गीत और सुन्दर सुनने योग्य दिव्य शब्दों की ध्वनि जाती है। वे ऐसे विमानों में विचरण करते हैं। इन विमानों के अतिरिक्त बहुत से आकाश स्थित विमान हैं। ये उन लोगों को उपलब्ध होते हैं जिन्होंने मती प्रकार बुद्ध धर्म में स्थिर, बड़ा रखकर सम्यक् सम्बुद्ध शास्ता के वचन का पालन किया है। ये विमान स्वर्ण निर्मित हैं तथा अत्यधिक चमकते हैं।

त्रिफिटकों ने अनेक पुण्य कर्मों की चर्चा करते हुए मुख्य रूप से ८ पुण्य कर्मों की चर्चा की है। वे पुण्य कर्म ही मनुष्य को स्वर्ग की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं। वे निम्नलिखित हैं-

- १- जो कार्य श्रावक बुद्ध की शरण ग्रहण करता है ,
- २- जो कार्य श्रावक धर्म की शरण ग्रहण करता ,
- ३- जो कार्य श्रावक संघ की शरण ग्रहण करता है,
- ४- जो कार्य श्रावक प्राणी हिंसा छोड़ कर विचरता है ,
- ५- जो और दान देता है।

६- जो कार्य श्रावक झूठ बोलना, चोरी करना, नशीली चीजों को छोड़कर सुरा-भरय आदि से विरत हो विचरता है, वह अनिष्ट प्राणियों

को समय, अवैर तथा क्रोध दान कर जन्तु समय, अवैर तथा क्रोध का मागी होता है।

७- जो कार्य श्रावक प्राणी की हिंसा से विरत होता है, वह जगणित प्राणियों को समय दान देता है ,

८- जो कार्य श्रावक सहाभ्रमणों का आदर सत्कार करता है । ये जगणित प्राणियों का समय दान देता है।

ये पाठ क्षुशल कर्म है, सुसंप्रद है, स्वर्ग ले जाने वाले हैं, सुखी बनाने वाले हैं^१। बुद्ध भिक्षुओं को बताते हैं कि जो प्राणी हिंसा करता है, नरक में पैदा होता है ।

उपर्युक्त नरक वर्णन जो पालि पिटक में मिलता है, एक बहुत ही भयानक नरक का चित्र प्रस्तुत करता है। इसके ज्ञात होता है कि बुद्ध का अपने शिष्यों को उपदेश देने का अर्थात् इस प्रकार के नरक वर्णन करने का उद्देश्य समाज में फैली हुई बुराई को दूर करना था । प्रायः सभी धर्मों में इस बात पर बल दिया जाता है कि मनुष्य को बुराई के रास्ते से रोककर भलाई के रास्ते पर चलाया जाय, और इसके लिए अपने इष्ट देवता के बताये हुए उपदेश पर प्रत्येक धर्मव्रत मनुष्य पूरी तरह चलने की कोशिश करता है । इस्लाम धर्म में भी इस बात पर प्रायः बल दिया गया है कि पुण्य करो तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी , यदि बुरे कर्म करोगे तो नरक लोक की प्राप्ति होगी । वहाँ भी नरक का बहुत भयानक वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है-

“ हमने अशुभ कर्मों के लिए जाग तैयार कर रखी है, उसकी फनातों ने उसको धर रखा है । यदि वे प्यास के मारे फरियाद करेंगे तो हम पानी से उनकी फरियाद रखी की जायगी तो पिघलते हुए तारों जैसा

होगा, जो सुर्जों को भून डालेगा । क्या ही बुरा है वह पय और वह जहन्नुम । वहाँ पापी जंजीरों से बंधे होंगे और आग की लपट उनके चेहरों पर आ रही होगी^१ । दूसरी तरफ अच्छे कर्म करने वालों के लिए बताया गया है-

“ अनुकूल कर्म करने वालों के लिए सदाबहार जन्तो हैं । उन लोगों के लिए नीचे नहीं बह रही होगी । वहाँ स्वर्णमय कंगनों से वे आभूषित किये जायेंगे और मसनदों पर तकिया लगाये बैठे होंगे । ”

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्म बुराई से रोकने के लिए उन्हें प्रलोभन देता है।

बुद्ध बड़े तार्किक व्यक्ति थे । उनका इस प्रकार भयानक नरक के वर्णन करने का एक अन्य उद्देश्य भी हो सकता है वह है शुद्ध कर्म । जो मनुष्य शुद्ध कर्म करेगा उसको जीवन मरण से छुटकारा मिलेगा और उसे स्वर्ग में भी उच्च स्वर्ग की प्राप्ति होगी । नीच कर्म करने वाला महापाप का भागी होगा और वैसा कर्म करेगा वैसा महापाप का भागी होगा, वैसा ही उसको कटु नरक प्राप्त होगा जहाँ वह जन्म जन्मान्तर तक कटु वेदनाओं को भोगता रहेगा ।

त्रिपिटक में बुद्ध ने अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के देवताओं का वर्णन किया है और कहा है कि इनका निवास स्थान देव लोक है जहाँ वे अत्यधिक पुष्ट साधनों के साथ निवास करते हैं । अतः बागे यह बताने का प्रयास किया जायेगा कि देवता कितने प्रकार के हैं एवं उनका निवास स्थान कहाँ है ?

कामावचार लोक के देवता एवं उनका निवास स्थान

स्थविश्वादी बौद्ध परम्परा के अनुसार छव्वीस

१- कुरान सूरये अल्कहफ़ १८, २६ , सूरये इबराहीम १३, ४८, ४७

२- वहीं

देव लोक बताया गया है जो क्रमशः एक के ऊपर एक स्थित हैं। उनमें से कामावचर लोक के देवता निम्नलिखित हैं -

- १- चातुर्महाराजिक
- २- तावतिन्स
- ३- वाम
- ४- सुयाम
- ५- तुषित
- ६- निम्नानरति
- ७- परिनिर्मित वसवती
- ८- विश्वकर्मा

चातुर्महाराजिक देवता

कामावचर भूमि के प्रथम देव लोक को चातुर्महाराजिक कहते हैं। इसके निवासी चातुर्महाराजिक देवता कहलाते हैं। इसे मनुष्य लोक के ऊपर तथा तावतिन्स लोक के नीचे बताया गया है। इसकी व्यवस्था तथा शासन चार लोक पाल करते हैं जो दिग्पाल कहे जाते हैं। वे हैं- धर्तस्ट, विरुल्लक, विरुपक्ष तथा वेस्वण। वेस्वण को कुबेर भी कहा जाता है। धर्तस्ट पूर्व दिशा के पालक हैं तथा गन्धर्वों पर राज्य करते हैं^१। विरुल्लक दक्षिण दिशा के लोक पाल हैं तथा कुम्भों पर शासन करते हैं^२। इसी प्रकार यक्षा के अधिपति उत्तर दिशा के लोक पाल हैं। इन सब देवताओं के राजा शक्र हैं। चारों लोक-पाल बड़े उदार- चित्त हैं। वे मनुष्य मात्र के कल्याण

१- विनयपिटक (महावग्ग) १. ७. १७ पृ० १५, कथावत्थु २. १७ पृ० १८०

२- दी० नि० ७. २. ६ भाग २ पृ० १६२, दी० नि० १. ६. ४५, ४६ भाग १

३- दी० नि० ६. २. ६ भाग ३

४- दी० नि० ६. २. ६ भाग ३, विमंग १८. ६. १२५ पृ० ५०४

में लगे रहते हैं। वे मनुष्य तथा देवलोक में सुख वातावरण बनाये रखने में तत्पर रहते हैं। वे प्रतिमास अष्टमी के दिन मनुष्य लोक में विचरण करते हैं। मनुष्य मेरे जैसा उपोसथ करे, इस प्रकार की भावना वे करते हैं एवं यहाँ के मनुष्यों के सत्कर्मों की धूँवना तावतिन्त्र की सुधूम सम्रा में देते हैं। वहाँ वे उपरत क्रम से बैठकर मनुष्य के सलाहकार का काम करते हैं। उन्हें बुद्ध में श्रद्धा है तथा उनकी सेवा एवं धर्म प्रसार में वमिरुचि है। इसके अतिरिक्त इस लोक के सिद्धापदोसिका एवं मनोपदोसिका नाम के देवता हैं। उष्णावलाहका, सूर्यदेव पुत्र, चन्द्रिम देवपुत्र इस लोक के देवता हैं।^२

उपर्युक्त देवताओं को इस बात का ज्ञान होता है कि हम स्त्रोतापन्न हैं, हमारा पतन नहीं हो सकता किन्तु यह तभी हो सकता है जबकि बुद्ध के प्रति उनके भीतर अविवक्षित श्रद्धा हो। इन देवताओं को कामलोक की प्राप्ति शील समाधि प्रज्ञा आदि व्रतों का पालन करने के उपरान्त ही होती है।^३

मनुष्य जीवन के सौ वर्षों के बराबर चातुर्माहा-

राजिक देवताओं का एक रात दिन होता है। उन तीस रातों का महीना होता है। उन महीनों से बारह महीनों का संवत्सर। उन वर्षों से पाँच सौ वर्ष चातुर्माहाराजिक देवताओं की आयु होती है। कोई स्त्री या पुरुष चाहे तो आठ अंगों वाले उपोसथ व्रत का पालन कर देवताओं में उत्पन्न हो सकती है। मनुष्य जीवन के सौ वर्ष त्रयोत्रिंश देवताओं का एक रात दिन है। उन तीस रातों का एक महीना उन बारह महीनों का एक संवत्सर (वर्ष) उन वर्षों से एक हजार वर्ष त्रयोत्रिंश देवताओं की आयु होती है। इसी प्रकार सुयाम देवता का एक दिन मनुष्य जीवन के सौ वर्षों के बराबर होता है। उत्तीस रातों का

१-अ. नि. ३३४. ८ भाग ६ पृ. १३२; जी. सी. म. ल. ल. से. क. पृ. १३४. १. १३४

२- अ० नि० ४. १. ६. ७ भाग ३ पृ० ४८, ४९

३- विमंग १८. ६. १२५ पृ० ५०४, अ० नि० ५. १. २ भाग ३ पृ० ३४७

४- विमंग १८. ६. १२७, अ० नि० ८. ५. २ भाग ३

एक महीना , बारह महीनों का वर्ष । उन वर्षों से दो हजार वर्ष याम देव-
ताओं की वायु होती है^१ ।

मनुष्य जीवन के चार सौ वर्ष , तुष्णित देवताओं के एक रात दिन के बराबर होता है। उन्तीस रातों का एक महीना, उन बारह महीनों का वर्ष , उन वर्षों से चार हजार वर्ष अधिक तुष्णित देवताओं की वायु होती है^२ यदि कोई स्त्री या पुरुष चाहे तो इस देवलोक की प्राप्ति कर सकता है, यदि वह बाठ बंगों वाले व्रत का पालन करे । इसी प्रकार निम्मान रति के विषय में बताते हैं कि मनुष्य जीवन के बाठ सौ वर्ष निम्मान रति देवताओं के एक रात दिन के बराबर है । उन्तीस रातों का एक महीना, उन बारह महीनों का एक वर्ष , उन वर्षों से बाठ हजार वर्ष अधिक निम्मान रति देवताओं की वायु होती है। परिनिर्मित वसवर्ती देवताओं के विषय में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। मनुष्य जीवन के सोलह सौ वर्ष परिनिर्मित वसवर्ती देवताओं का एक रात-दिन, उन्तीस रातों का एक महीना, उन बारह महीनों का एक वर्ष , उन वर्षों से सोलह हजार वर्ष की परिनिर्मित-वसवर्ती देवताओं की वायु होती है। यदि कोई मनुष्य चाहे तो बाठ बंगों वाले व्रत का पालन करके देवलोक की प्राप्ति हो सकता है^३ । बुद्ध ने उन बाठ व्रतों को बुद्धार मिच्छुओं के सामने प्रस्तुत किया था । वे व्रत हैं-

“ प्राणी हिंसा न करे , चोरी न करे ,
मूठ न बोरे, सराव न पिये , अन्नचर्वणं अथवा मैथुन कर्म से विरत हो , रात को विकाल भोजन न करे , माला धारण न करे, सुगन्धियों का सेप न करे ,
(नीची) चारपाई तथा (फूस के) वास्तरण पर सोये । इस बाठ बंग

१- विमंग १८ . ६ . १२७ , अ० नि० ८ . ५ . २ भाग ३ पृ० ३५०

२- विमंग १८ . ६ . १३१

३- विमंग १८ . ६ . १३३, ३५ पृ० ५०५

वाले उपासक को बुद्ध ने दुःख का अन्त करने वाला बताया है^१।

चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों सुदर्शन हैं। अन्धकार को नष्ट करने वाले अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाले, प्रकाश पुंज, आकाशस्थित ये जितने प्रदेश को प्रकाशित करते हैं, उस प्रदेश में जितना भी धन है, जितने भी मोती, माणिक्य तथा श्रेष्ठ विल्वीर हैं, जितना भी सुंगी स्वर्ण हैं, जितना भी रत्न है, जितना भी जात रूप है, ये सब तथा चन्द्रमा की प्रभा और सभी तारागण जाठ जंगों वाले उपोत्पन्न व्रत के पालन के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं हैं^२।

उपर्युक्त विवेचन से शायद होता है कि बुद्ध की दृष्टि में मनुष्य जीवन बहुत ही तुच्छ है और देवताओं का जीवन सफल जीवन है। देवताओं की आयु भी अधिक होती है वे सब तरह के पापों से मुक्त होते हैं। मनुष्य की आयु भी कम होती है, और संसार में रह कर उन्हें विभिन्न प्रकार के कष्ट सुख दुःखादि भोगने होते हैं। बुद्ध के अनुसार देवलोक की प्राप्ति हो जाने से मनुष्य को जन्म जन्मान्तर में विभिन्न प्रकार की योनियों में जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वह हर तरह के सांसारिक पापों से मुक्त हो जाता है। इन देवताओं के सामर्थ्य में तथा मनुष्य के सामर्थ्य में भी अन्तर होता है किन्तु इनकी वाकृति के विषय में पिटकों में कहीं वर्णन उपलब्ध नहीं होता। इन देवताओं में कामनाओं का वास नहीं होता। बुद्ध ने इसी कारण देवताओं को श्रेष्ठ माना है। इसी कारण बुद्ध ने प्रत्येक स्थल पर उपदेश दिये थे कि भिक्षुओं

१- अ० नि० द. ५, २ भाग ३ पृ० ३५१

पापं न हज्जेन चदिन्नमादिये, मुसा न भासे न च मज्जपो सिया

-----, सुद्धेन दुस्सन्त गुणा पकासितं ।।

२- अ० नि० द. ५, २ भाग ३ पृ० ३५१

वच्रे कर्म करो देवलोक की प्राप्ति होगी । यदि मनुष्य इन व्रतों का पालन कर ले तो उसे देवलोक की प्राप्ति हो सकती है और फिर ये व्रत इतने कठोर भी नहीं कि मनुष्य इनका पालन कर सके । बुद्ध के इस प्रकार के उपदेशों से ज्ञान होता है कि वह मनुष्य को परमार्थ बुद्ध व्यक्ति के रूप में देखना चाहते थे जो भोग विलासों से दूर रहे । जागे इन देवताओं की शक्तियों के विषय में वर्णन किया जायेगा ।

तावतिन्स देवता

तावतिन्स लोक सुमेरु पर्वत पर स्थित बताया जाता है । प्रो० मल्ल सेसर ने इः देवलोकों में से द्वितीय देवलोक "तावतिन्स लोक" को माना है। इन्द्र इनके अधिपति हैं । इनके प्रासाद का नाम "वेजवन्त" है । इस लोक में शरावत नाम का एक हाथी है जो इनकी सवारी है । तौवतिन्स लोक में "सुधम्म" नाम की एक समा है। इस परिषद् में चार महाराज चारों दिशाओं की ओर मुख करके बैठे हैं। पूर्व दिशा में पश्चिम की ओर मुख करके धर्म्मा बैठे हैं। दक्षिण दिशा में उत्तरमुख होकर विरुष्क महाराज बैठे हैं। पश्चिम दिशा में विरुप्पत्त नामक महाराज पूर्व की ओर मुख करके बैठे हैं ।

तावतिन्स लोक में ही सुन्त कुमार ब्रह्मा प्रादुर्भूत होते हैं जो कि अन्य देवताओं से आकृति में विशिष्ट हैं । ब्रह्मा सुन्त कुमार इस

१- जे ६ २७५ देसिये जी०सी० मालालासिक्क डी० पी० पी० एन० पृ० १,१००२

२- डी० नि० ५. ३. १० भाग २ पृ० १५६

चत्तारो च महाराजानो चतुर्दिक्ता

निशिन्ना हीति -----

वेस्सवणो महाराज दधिसण्णामिमुखो

निशिन्नो हीति ।।

परिणद् में ऊँचे वासन पर बैठते हैं । वे ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं^१ ।

भगवान् बुद्ध तीन मास तावतिन्स लोक में रह कर अपने उपदेश देते हैं । उस समय वे शक्र के पाण्डुकम्बलसिलासन पर बैठते हैं जो कि " पारिच्छत्तकवृक्षा " के नीचे हैं । ८० हजार देवता इस समा में होते हैं^२ ।

तावतिन्स लोक के देवता शक्र, विश्वकर्मा एवं भैरव हैं । वे अनेक अवसरों पर पृथ्वी लोक पर मनुष्यों के कार्यों को देखने के लिए जाते हैं । त्रावतिन्स लोक के देवता अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक होते हैं^३ ।

पाण्डुकम्बल सिलासन कहाँ है ? इसके विषय में पिटकों में वर्णन मिलता है कि यह पारिच्छत्तकवृक्षा के नीचे हैं जो कि परम्परा के अनुसार देवराज शक्र का सिंहासन कहा जाता है। यह साठ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा तथा पन्द्रह योजन मोटा है। यह जयसुमन सा एक वर्ण के कम्बल सदृश वृष्टिगोचर होने के कारण पाण्डुकम्बलसिलासन कहा जाता है। इसी पर बैठकर देवराज शक्र समस्त कार्य करते हैं। जब कोई मनुष्य अथवा देव कार्य करता है तो यह सिंहासन उठ्ठा हो उठ्ठा है। सत्पुरुषों के विपत्ति काल में भी इसके उठ्ठा होने की चर्चा है । ऐसी सूचना पाकर उनकी सहायता के लिए शक्र वहाँ उपस्थित होते हैं । शक्र फल की अवधि की परिमिताप्ति पर भी यह उठ्ठा हो उठ्ठा है। भगवान् बुद्ध ने इसी सिलासन पर बैठकर अपनी माँ को साक्षी बनाकर देव परिणद् में उपदेश किया था^४ ।

१- डी० नि० ५, ३, १०, ६, १, २ पृ० १५६, जा० २, ३१२

२- जे० ६ ३८२, जे० १, ५४ देखिये जी०सी० मलालासिद्ध डी०पी०पी० पृ० १००२, ३

३- जे०, ३, ८७

४- डी०ए०एन० १, ८६४ द्रष्टव्य डी०पी० पी० एन० पृ० १००३

५- जे० १, ५०, २, ६३; ३, ५३; ४, ८५, ६२ द्रष्टव्य मलालासिद्ध

डी०पी०पी० एन० पृ० १०३२

तुषित देवता

तुषित देवता का निवास स्थान तुषित पुर कहलाता है। तुषित देवलोक का स्थान २६ देवलोकों में से चतुर्थ है। यह यम देवलोक के ऊपर तथा निम्नानरति देवलोक के नीचे है।

यह देवलोक अति पवित्र एवं रमणीय समझा जाता है। बोधि लाभ के पूर्व सभी बोधिसत्त्व यहाँ जन्म लेते हैं^१। उनका अनेक जन्मों का बोधिसत्त्व जीवन यहाँ समाप्त होता है। इसकी समाप्ति के कुछ क्षण पूर्व दस सहस्र लोक प्रातु के देवता यहाँ एकत्र हो बोधिसत्त्व से मनुष्य के रूप में जन्म लेने की याचना करते हैं। बोधिसत्त्व बोधि लाभ की सम्भावना तथा अन्योन्य विलोकनों को देखकर मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं। कुशल कर्मों के फलस्वरूप अन्य सत्पुरुषों की लोक लीला समाप्त करके यहाँ उत्पन्न होते हैं^२।

तुषित देवलोक के निवासी बड़े ही प्रसन्न चित्त होते हैं। वे मनुष्य लोक में जाकर बुद्ध के उपदेशों को सुनते हैं तथा कुशल कर्मों में रत मनुष्यों को देस बड़े प्रसन्न होते हैं।

परनिर्मितवशवती देवता

यह एक देवता का नाम है जो कामावचर देवलोक

१- J. 1.50; 2,93, 3.53, 4, 85, 92

See- Malalasekra , D.P.P.N. p 1032

G.C. Malalasekra , D.P.P.N. p. 1033

" The tusita world is considered the most beautiful of the clestial worlds, and the pious love to be born there because of the presence of Bodhistta. "

२- म० नि० २३. १. १ भाग ३ पृ० १८४, ८५

के अन्तिम तथा छोटे लोक में निवास करते हैं । इनके नाम के आधार पर इस देव-लोक का भी वही नाम है। ये स्वयं अपने उपयोग के लिए किसी वस्तु का निर्माण नहीं करते बल्कि दूसरों द्वारा निर्मित वस्तुओं को अपने घर में कर लेते हैं । इनके ऐसे कार्य के लिए ही उन्हें "परनिमित्तवत्ती" कहा जाता है ।

वाय्वात्मिक उत्थान की दृष्टि से इन देवताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कामावचर भूमि में ये सबसे उच्च कोटि के सत्त्व हैं । इनका सहवास बलि सुलभ होता है जो श्रद्धा, श्रुत, सील आदि पंवागी कुशल कर्मों के फलस्वरूप ही होता है।

विस्तकम्मा (विश्वकर्मा)

ये वातुमहाराजिक नामक कामावचर देवलोक के एक देवता के देवपुत्र हैं जो प्रायः शक्र की सेवा में तावतिन्स लोक में रहते हुए प्रधान वभियन्ता का कार्य करते हैं । इन को देवलोकों के राजकीय दिव्य भवनों के ये निर्माता हैं । कहा जाता है कि ये शक्र की आवश्यकतानुसार मनुष्य एवं देव लोक में पुण्यात्माओं के लिए निवास स्थान बनाते हैं। राधा सुदर्शन तथा राज-कुमार मरामदान के लिए इन्होंने बहुत ही सुन्दर प्रासाद का निर्माण किया था । कुदाल पण्डित तथा सुमेध तापस के प्रव्रणित होने पर हिमालय के सुरम्य पाद में इनके द्वारा सुन्दर पर्णशालायें बनाने का उल्लेख है । इत्थिपाल, जयोधर, ज्या-

१- वाचायं अमुरुद्ध (सं० रेवत्त धम्म एवं रामरकर) अमि० सं० पृ० ४७६ भाग २

२- सं० नि० ५, ७ भाग १ पृ० १३३

३- दी० नि० ३, १०, १६ भाग २ पृ० १३८ अथ सो, संकी, देवानमिन्दो धम्म नाम पासादे ।

जा० ४, ३२३

४- नि० ५० ६, जा० १, ३१४

तिपाल , सुत सोम, तेमिय , वेस्सत्तर आदि प्रसंग में ऐसी वर्ण है^१ । गौतम के महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उन्होंने उनके गुह्य जीवन का अन्तिम पृंगार बर्णन ढंग से किया था । इस प्रकार विश्वकर्मा नगर निर्माता, वमियन्ता एवं दत्ता सुशोभक के रूपमें प्रकट होता है।

शक्र (सबक)

जैसाकि हमने पूर्व कहा जा चुका है चातुमहाराजिक तथा तावतिन्स नामक देवलोको के राजा का नाम (सबक) है। ये प्रायः देवराज शक्र कहे जाते हैं। मध्व, पुरिन्दर , वासव, सहस्सक , सुजम्पति, कोसिय आदि इनके अनेक नाम पाये जाते हैं । पालि साहित्य से प्रकट होता है कि शक्र किसी देव विशेष का नाम नहीं बल्कि एक पद है । कुशल कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य इस पद को प्राप्त करते हैं । शक्र का निवास स्थान एक हजार योजन विस्तृत है । उसमें स्वर्ण निर्मित साठ योजन लम्बी छतें हैं । उनका स्वर्णिम माणि वाला रक्ति वर्ण का हाता पाँच योजन लम्बा चौड़ा है । उनकी यात्रा का साधन स्फटिक माणि निर्मित रेरावत हाथी है। किन्तु वे बुद्ध में^३ 'वेजयन्त' स्थ पर जाते हैं । इनका पण्डुकम्बलसिलासन पीले वर्ण के पत्थरों से निर्मित है ।

शक्र की बुद्ध के प्रति वफादारी बड़ा है । शक्र का व्यक्तित्व पालि निवायों में बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रित है। वे एक चतुर शासक , महान् योद्धा , प्राप्तिमात्र के स्थितेष्ठी तथा बड़ा सम्पन्न शासक हैं । जो मनुष्य बुद्ध पर बड़ा रक्ते हैं उनकी सहायता करने के लिए शक्र अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करते हैं । वे आपत्ति ग्रस्त मनुष्यों का सर्वदा कल्याण करते हैं । चक्षुपाल नामक एक वादमी जब बन्धा हो गया तो शक्र ने उसका हाथ फाड़ कर उसे भी बस्ती पहुँचा दिया ।

१- जा० ४ , ४६ , ४६६ , ५ , १३२ , १६० , ६ , २१-२६ , ५१६

२- जा० ६ पृ० १२

३- जी० सी० अलसैक - डी० जी० सी० स्न० पृ० २, ७६१, ६२

सज्जन मनुष्यों की सहायता करने की अनेक कथारं शक्र के विषय में जातकों में मिलती हैं। सुदाल पण्डित, अयोधर, हत्थि-पाल आदि के लिए उन्होंने उनके निवास स्थान का प्रबन्ध किया था।

सर्गम जातक के अनुसार शक्र के चार पुत्रियाँ हैं-
आता, सद्दा, हिरि एवं रिरि। विश्वकर्मा शक्र के प्रमुख मित्र हैं।

इन देवताओं के अतिरिक्त याम, सुयाम, निम्मान रति देवताओं का वर्णन भी पालि निकायों में यत्र तत्र किया गया है। किन्तु इनकी शक्ति और ऐश्वर्य का कहीं उल्लेख नहीं है।

याम देवता

अन्य कामावचर देवताओं की सूची में तुण्डित देवता के साथ याम देवता का वर्णन त्रिपिटक में किया गया है। याम देवता की कल्पना हिन्दू धर्म के देवता यमराज के आधार पर की गयी है। संयुक्त निकाय की बृहत्कथा में कहा गया है कि याम एवं सुयाम देवता बुद्ध के दर्शन के लिए उनके पास गये थे। हिन्दू धर्म में मृत्यु के देवता यमराज माने जाते हैं किन्तु बौद्ध धर्म में यम देवता के लिए इस प्रकार की कोई कल्पना नहीं की गयी है। ये देवता दिव्य सुतों का उपभोग करते हैं।

सुयाम देवता

सुयाम वैशाली नगर के ब्राह्मण परिवारों के

१- (क) अ० नि० ३. ४. ८ भाग १, स० नि० १०. २. २ भाग १ पृ० २०७

(स) DHA II 34 F; J II 38; J V 392

देखिये - G.C. Malalasekera, D.P.P.N. p 2962, 63

२- A.I 228; III 287; M II 194; S.N.A.I Vol.2 (PTS)

A IV 253 See G.C. Malalasekera, D.P.P.N. page 2, 694

देवता हैं जो वैवाज्यवन में बड़े निपुण थे । त्रिपिटक में कहीं कहीं मनुष्यों की कौटि से कुछ उच्च श्रेणी के देवता के रूप में उनका सम्मान हुआ है। सुयाम देवता का देवता नाम मात्र की ही वर्णन पालि भिकायों में किया गया है। उनकी सन्धि वादि का कहीं वर्णन नहीं मिलता ।

रुपावचर लोक के देवता एवं उनका निवास स्थान

रुपावचर लोक के देवता निम्नलिखित हैं -

- १- महाब्रजा
- २- सहस्रपति ब्रजा
- ३- घटीकार ब्रजा
- ४- परित्तम
- ५- वप्पमाणम
- ६- वामत्सर
- ७- परित्तुम
- ८- वप्पमाणमुम
- ९- रुम किण्ड
- १०- वेहत्फल
- ११- वसज्जसत्त
- १२- सुहावास या विरुद्धि देवा

महाब्रजा

रुपावचर तृतीय ब्रजलोक की महाब्रज लोक कहते

१- Thag. 74
Thag A I 165 F

हैं। इस लोक के निवासी महाब्रजा के नाम से अभिहित होते हैं। इन्हें महाब्रजा कहने का तात्पर्य यह है कि ये पूर्व के दो लोकों के ब्रजाओं की अपेक्षा सौन्दर्य एवं वायु में विशेष हैं। अठ्ठात्तिनी १६० के अनुसार ये परिशुद्ध चित्त वाले होने के कारण महाब्रजा कहलाते हैं। महाब्रजा का संवास कुशल कर्मों के फल-स्वरूप होता है^१। वे देव और मनुष्य सभी के ऊपर कृपा करते हैं और सभी का हित करने में लगे रहते हैं^२।

अंतर्गत निकाय के 'पठमोकोसलसुत्त' में महा-ब्रजा की महिमा अत्यधिक बढ़ा बढ़ा कर की गयी है। उनको इतनी महिमा देने से तो यही ज्ञात होता है कि बुद्धकालीन दैविक भावना में महाब्रजा ही सबसे प्रधान देवता है। उनमें सब देवताओं से अधिक शक्ति है। वहां बुद्ध भिक्षुओं को पताते हैं " भिक्षुओं। जितने दोष में चन्द्रमा तथा सूर्य विचरते हैं, जिन जिन दिशाओं में दीप्ता होकर भ्रमण करते हैं, लोक उससे हजार गुना है। उस सहस्र गुना लोक में हजार चन्द्रमा हैं, हजार सूर्य हैं, हजारों सुमेरु पर्वतराज हैं, हजार जम्बूद्वीप हैं, हजार वपर नौयान हैं, हजार उत्तर गुरु हैं, हजार पूर्व विदेह हैं, चार हजार महासमुद्र हैं, चार हजार महाराजग्व है, हजार चातुर्माहाराजिक (लोक) हैं, हजार त्रियोत्तिश, हजार याम, हजार तुष्णित, हजार निम्मान रति, हजार परनिम्मित वसन्ती तथा हजार ब्रज लोक हैं। भिक्षुओं, ये जितनी भी हजार-हजार वाली लोक धातु हैं, उसमें महाब्रजा प्रधान कहलाता है। " इसका तात्पर्य है कि उपर्युक्त देवों में महाब्रजा सबसे बड़ा है। जागे कहते हैं- " भिक्षुओं महाब्रजा में भी परिवर्तन होता है, परिणाम होता है।

१- दी० नि० १. ६. ६६, २. १. १२ भाग २ पृ० ३७, ४८

२- विमंग १८. ६. १४६ पृ० ५०७, ५०८

२- वही

मिचुओं, इस बात की वेस्ता हुआ जानी आचक उस महाब्रजा के प्रति भी निर्वेद की प्राप्त होता है। उसके प्रति वैरागी होने वाला, जो अग्र (प्रधान) है, उसके प्रति भी वैरागी होता है, हीन की तो बात ही क्या है? मिचुओं, एक समय होता है जब इस लोक का विकास होता है। मिचुओं। जब लोक का विकास होता है, तो प्राणी बहुत होकर जामास्वर- प्रवृत्त होते हैं। वे प्राणी मनोमय होते हैं, प्रीति मोपी होते हैं, स्वयं प्रम होते हैं, अन्तरिक्ष में विवरण करने वाले होते हैं, दीर्घ काल तक रहते हैं। मिचुओं, जामास्वर देव-ताओं में भी परिवर्तन होता है, परिणाम होता है।^२

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि महाब्रजा यद्यपि सब देवताओं में बड़े हैं, किन्तु उनका भी अन्त होता है। उनको भी दूसरा जन्म प्राप्त होता है। इतना जरूर है कि मनुष्यों की अपेक्षा उनकी जाति अधिक है।

सहस्रपति ब्रजा

पाणि साहित्य की प्रजाओं की लम्बी सूची में सहस्रपति ब्रजा का ऊँचा एवं प्रमुख स्थान है। इसका एक मात्र कारण यह दिखाई देता है कि ये सप्तलोक के प्राणी होते हुए भी मानव मात्र के कल्याण में सदा लगे रहते हैं। उनके अधिक कार्यकलाप मनुष्य लोक में देखे जाते हैं। ब्रज लोक कैसा है? इस विषय में त्रिपिटकों में वर्णन नहीं मिलता।^३

सम्बोधित प्राप्त करने के बाद समाधि से उठकर बुद्ध ने सोचा इस धर्म का उपदेश किसे दिया जाय क्योंकि उनका धर्म अत्यन्त गंभीर

१- अ० नि० १०, ३, ४ भाग ४ पृ० १४५

२- अ० नि० १०, ३, ४ भाग ४ पृ० १४६

३- स० नि० ४७, ४३, ४७ भाग ४ पृ० १४३, १६०

दुरुन्मुख एवं पण्डितों के ही समक्ष में जाने योग्य था। उन्होंने संसार के मनुष्यों को इस योग्य नहीं समझा क्योंकि प्रजा विभिन्न वात्सव्यों (इच्छाओं) में रत होती है। प्रजा सहस्रपति ने उनके मन की बात को समझ लिया और ब्रह्मलोक से नीचे जाकर बाएँ फैलाकर, हाथ जोड़कर और ऊपर का कपड़ा नीचे टखनों तक गिराकर बुद्ध से कहा, “ मगवन् वाप मुझे अपने सुधर्म की देशना दें। ” सहस्रपति ब्रजा बुद्ध से कहते हैं कि “ वापका धर्म अत्यन्त पवित्र है। मगध इससे पहले अपवित्र धारा में बह रहा था। मगध में अमृत के द्वार खुल गये हैं। बुद्ध। वाप मुझे धर्म का उपदेश दें। ” बुद्ध ने उन्हें धर्म की देशना की। फलतः उन्होंने धर्म चक्र प्रवर्तन किया।

सहस्रपति ब्रजा का व्यक्तित्व अति सुन्दर एवं प्रभा सम्पन्न है। वे जहाँ कहीं प्रकट होते हैं, वह स्थान उनके शरीर की गामा से आलोकित हो उठता है। विरोधियों पर भी उनके ऐसे व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है और वे धर्म के सत्त्व को समझ जाते हैं। इसलिए भी उन्हें महाब्रजा कहा जाता है।

त्रिपिटक में अनेक अवसरों पर सहस्रपति ब्रजा बुद्ध की सहायता करते दिखायी देते हैं। उनको बुद्ध का अपमान सहन नहीं है। एक बार कोकालिका नामक मिछु ने मगवान् की निन्दा की और कहा “ मगवन् दुरी इच्छाओं के बलीभूत हैं। ” मगवान् के मना करने पर भी वह ऐसा कहता रहा। तब कुछ समय बाद उस मिछु के शरीर पर अनेक पीव से भरे फोड़े फुंसी निकल गये। वह विषा निगलने वाली मछली की तरह केले के पत्तों पर पड़ा

१- स० नि० ६, १, १ भाग १ पृ० १३७, ३८ ब्रह्मसुत्त सुत्त

२- स० नि० ४८, ५७, ५८ भाग ४ पृ० २०१ सहस्रपति ब्रज सुत्त

३- ज० नि० १०, ६, ५ भाग ४ पृ० २३६

था । तब सहस्रमपति ब्रजा प्रकट हुए और उन्होंने कहा - " सारिपुत्र के प्रति मन में अहंता उत्पन्न कर । " तब मिच्छु कहता है कि " तेरे बारे में तो बुद्ध ने कहा था कि तू बनानामी होगा । तू यहाँ क्यों आया ? यह देख तेरा अपराध है " तब प्रत्येक ब्रजा ने कौकालिक मिच्छुक को गाथा में उत्तर दिया -

‘ पुरिस्स हि जातस्स, कुटारी जायते सुखे
याय हिन्दति वत्तानं, वाली दुक्खासितं मंग
यो निन्दियं परसति
तं वा निन्दति यो परसिवो । ’ १

जादमी के जन्म के साथ, उसके मुँह में कुल्हाड़ी पैदा होती है। मूर्ख जादमी दुष्ट वचनों का प्रयोग कर उस कुल्हाड़ी से अपने वाप को काट लेता है। जो निन्दनीय की प्रशंसा करता है, अथवा प्रशंसनीय की निन्दा करता है, वह अपने मुँह से अपराध करता है और उस अपराध के फलस्वरूप सुख को प्राप्त नहीं होता । " जो वार्य (श्रेष्ठ) की निन्दा करने वाला है वह दुष्ट मन और वाणी के कारण जिन नरकों को प्राप्त होता है वे हैं एक लाख इत्तीस निर्व्युद्ध तथा पाँच अर्द्ध । " कौकालिक मिच्छु ने अपनी गलती को नहीं माना और यह वहीं मर गया । सारिपुत्र मौजगियायन के प्रति मन में द्वेष रखने के कारण कौकालिक मिच्छु मरने पर ' पद्म ' नाम के नरक में पैदा हुआ ।

तब प्रकाशमान सहस्रमपति ब्रजा सम्पूर्ण ज्योत्स्ना पूर्ण रात्रि में सारे जेतवन को आलोकित कर जहाँ भगवान् थे वहाँ पहुँचे और कहा " कौकालिक मिच्छु पद्म नरक में उत्पन्न हुआ है क्योंकि उसने सारिपुत्र के प्रति द्वेष भाव रखा " । ऐसा कह कर वे वन्तप्रान्ति हो गये ।

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रह्मा बुद्ध की प्रत्येक कठिनाई के समय उनका साथ देते हैं। वे स्वतः प्रकाशमान हैं कि धारा लोक उनके प्रकाश से चाली फित हो उठता है। वे अपनी शक्ति से जब चाहें देवलोक पहुँच सकते हैं और जब चाहें पृथ्वी लोक पर जा सकते हैं।

घटीकार ब्रह्मा

यह भी रूपावचर लोक के ब्रह्मा का नाम है जो कि अविद्या ब्रजलोक में रहते हैं। बोधिसत्त्व की आवश्यकताओं को पूरा करने का वे भरपूर प्रयत्न करते हैं। जब बोधिसत्त्व प्रव्रज्या लेकर हिमालय की पादभूमि में पहुँचे तो उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि उनके बहुमूल्य वस्त्र, द्रमणा के अनुरूप नहीं हैं। घटीकार ब्रह्मा ने तत्क्षण उनकी नवीदला जानकर द्रमणों के योग्य वस्तु लेकर वहाँ उपस्थित हो उन्हें वस्त्र प्रदान किया। इन देवताओं के अतिरिक्त अन्य धातु प्रकार के देवताओं परित्ताम, अप्पमाणम, वामस्सर, परित्तसुम, अत्पमाणमसुम सुम किण्ह, वेहत्फल, अत्तज्जसत्त आदि देवताओं का वर्णन पिटकों में नाममात्र को किया गया है।

अप्रमाण एवं वामास्वर ब्रह्माओं से अल्प वामा वाले ब्रह्माओं को 'परित्ताम' कहते हैं। उनके निवास स्थान को 'परित्तामा' कहते हैं^२। जिनकी वामा अप्रमाण होती है उन ब्रह्माओं को 'अप्रमाणाम' कहते हैं^३।

वामस्सरा- इस भूमि में रहने वाले ब्रह्माओं के शरीर से वामा प्रस्फुटित होती है। अतः उन्हें 'वामास्वर' कहते हैं। ये

१- सं० नि० १, ५०, ६३, २, २४, ३६ भाग १ पृ० ३३ घटीकार सुत्त

२- विमा० पृ० १२४, प० दी० पृ० १६७, म० नि० भाग ३ पृ० २१६, २१८

देखिये- वाचायं अनुसुद्ध (सं० रेवत्तधम्म एवं रामरकर) अमि० सं० पृ० ४८१ पर उद्धृत।

३- अ० मि० सं० पृ० ४१८

तीनों देवता द्वितीय ज्ञान भूमि के देवता हैं। जो प्रथम ज्ञानभूमि के ऊपर आकाश में सप्तम स्तर पर स्थित रहती हैं। इसमें वामास्वर ब्रह्मा, महाब्रह्मा की तरह द्वितीय ज्ञान भूमि का अधिपति होता है। परित्तम एवं अप्रमाणम ब्रह्मा उसके परिवारक एवं पुरोहित होते हैं। इसमें परित्तम ब्रह्मा को ब्रह्मपरिणय अप्रमाणम को ब्रह्मपुरोहित एवं वामास्वर ब्रह्मा को "महाब्रह्मा" कहा जा सकता था, इसी तरह अन्य भूमियों में भी अधिपति को महाब्रह्मा एवं अन्यो को ब्रह्म-परिणय एवं ब्रह्म पुरोहित कहा जा सकता था, किन्तु अपने गुणों के अनुसार उनके "परित्तम" वादि विशिष्ट नामकरण किये गये हैं।

परित्तमुमा

अपनी भूमि से ऊपर के ब्रह्माओं से अल्प शोभा युक्त होने के कारण इस भूमि के ब्रह्माओं को "परित्तमुम" कहते हैं।

अप्रमाणमुमा

जिनकी शारीरिक कान्ति अप्रमाणा होती है उन्हें अप्रमाणमुम कहते हैं^२।

मुमकीर्ण

मुमा (शरीरकान्ति) से अकीर्ण (युक्त) ब्रह्माओं को मुमाकीर्ण (मुमकृत्स्न) कहते हैं।

बैहत्फल

जिनका फल अत्यन्त विशाल होता है उन्हें

१- वि० भा० पृ० १२४, प० दी० पृ० १६७, म० नि० तृतीय भाग पृ० २१६, १८

विष्वा० व० पृ० ५२८ (सं० रेवतधम्म एवं रामसंकर) अमि० स० पृ० ४८१

२- विमा० पृ० १२४, प० दी० पृ० १६७। म० नि० तृतीय भाग पृ० २१६, १८

विम० व० पृ० ५२८ वानार्य अतुरुद्ध (सं० रेवतधम्म एवं रामसंकर) अमि० स० ४८१ पर उद्धृत

वृहत्फल कहते हैं। इनकी निवास भूमि को 'वृहत्फला भूमि' कहते हैं^१।

वज्रसत्ता

जिनमें संज्ञा नहीं होती उन्हें वसंज्ञ (वसंज्ञी) कहते हैं। इन ब्रह्मणों में कोई भी चित्त या चैतानसिक नाम धर्म नहीं होता।

वसंज्ञिभूमि एवं वृहत्फला भूमि ये दोनों वाकाश में समान स्तर पर अवस्थित हैं। ये पृथक् पृथक् भी न होकर एक क्षेत्र में ही होती हैं।

सुद्धावास देवता

रूपावचर ब्रह्म लोक के अन्तिम लोक को सुद्धावास कहा जाता है। इसके निवासी सुद्धावास देवता या ब्रह्मा बहे जाते हैं।

वैष्णव धर्मी से सुविशुद्ध अनागामी एवं वर्तमानों की आवासभूता भूमि 'सुद्धावास' भूमि है। सुद्धावास भूमि पांच ब्रह्मलोकों का सामूहिक नाम है। वे हैं- अविहा, अतत्पा, सुवस्सा, सुवस्सी तथा अकनिट्ठ^२। अविधर्म दर्शन के अनुसार सुद्धि का तात्पर्य चित्त सुद्धि से है। रूपावचर पंचम ज्ञान की भावना पूर्ण रूप से देखने के कारण इस लोक में जन्म होता है। जब मनुष्य ज्ञान की भावना करता है तत्पश्चात् इस लोक में वह जन्म ग्रहण करता है।

१- विम० पृ० १२४ , प० दी० पृ० १६७ । म० मी० तृतीय भाग पृ० २१६, १८

विम० प० पृ० ५२८ आचार्य अनुरुद्ध (सं० रेवत्त धम्म एवं राम संकर)

विम० सं० पृ० ४८१ पर उद्धृत ।

२- दी० नि० १. ६. ७२ , ७३ भाग २ पृ० ३६, ४१ ,

दी० नि० १०. ३. २३ भाग ३ पृ० १४८

फलतः इस लोक में ब्राह्मणों का चित्त स्वभावतः उतना सूक्ष्म एवं परिशुद्ध होता है जितना पंचम अव्यय का होता है। अव्यय परम्परा में परिशुद्धता का यह चरम रूप है। ये चित्त वे उत्पन्न होने के कारण ये सुखावास कहे जाते हैं एवं उनका लोक भी सुखावास ब्रह्मलोक कहलाता है। बोधिसत्त्व कभी यहाँ उत्पन्न नहीं होते।

इन रूपी ब्रह्मणों के उद्यान, विमान एवं कल्प-वृक्षादि धन्य देवों से श्रेष्ठ एवं महान् होते हैं। इन ब्रह्मणों को अपने उद्यान वादि के प्रति अनुराग भी होता है, किन्तु अपनी ब्रह्मभूमि में पहुँचने से पहले जब अव्यय भावना करते हैं तब लौकिक कामगुणों के प्रति इनमें घृणा उत्पन्न हो गयी रहती है। अतः ये काम भूमि के देवताओं की तरह काम भोग नहीं करते। इस रूपान्वय भूमि में काम भूमि की तरह कामोपभोग करने के लिए स्त्री पुरुषा योनियाँ भी नहीं होतीं। ये सभी ब्रह्म योगी की तरह होते हैं। कुछ ब्रह्म मैत्री, करुणा, मुक्ति एवं उपेक्षा नामक ब्रह्म विहार की भावना करते हैं। कुछ ब्रह्म अव्ययसमापत्ति का समावर्णन करते हैं तथा कुछ कार्य ब्रह्म फलसमाप्ति का आवर्णन करके सुतत्पूर्वक विहार करते हैं।

वरुणावचर लोक के देवताओं का निवास स्थान

वरुणावचर लोक के ब्रह्म को वरुणी देवता कहा जाता है। वरुण का अर्थ है रूप रहित अर्थात् भौतिक काय से रहित। ये देवता भौतिक काय से रहित केवल विज्ञानमय होते हैं। ये सूक्ष्म चित्त वाले होते हैं।

१- महेश तिवारी - निदान कथा पृ० २७१

२- द्रष्टव्य- धर्म० को० ३. ६६ की व्याख्या पृ० २७५, ७६

तुलना- धर्म० को० ३. ७० पृ० ३८६

प्रित प्रकार प्रथम सनाधि से वित्त चावित्य रहित होकर धूम्रता को प्राप्त होता है उसी प्रकार का वित्त इन देवताओं की स्वभावतः उपलब्ध है ।

वरुपी देवता चार प्रकार के होते हैं -

- १- वाकाशानन्त्यायतन देव
- २- विज्ञानानन्त्यायतन देव
- ३- वकिञ्चानन्त्यायतन देव
- ४- नैवसंज्ञानानन्त्यायतन देव

इनके नाम के आधार पर ही इनकी वासभूमियों के भी नाम हैं जो रूपावधर देवलोक के ऊपर तथा वज्रकाश में स्थित हैं ।

वाकाशानन्त्यायतनविपाक वित्त - कैतसिक से प्रतिसन्धि लेकर निरन्तर उत्पन्न होने वाली नाम स्कन्धसन्तति के वधिष्ठान-भूत वाकाश को 'वाकाशानन्त्यायतनभूमि' कहते हैं । इसी तरह विज्ञानानन्त्यायतनविपाक वित्त - कैतसिकों द्वारा प्रतिसन्धि लेकर निरन्तर उत्पन्न होने वाली नाम स्कन्धसन्तति के वधिष्ठानभूत वाकाश को विज्ञानानन्त्यायतनभूमि कहते हैं। इसी प्रकार वकिञ्चानन्त्यायतनभूमि एवं नैवसंज्ञानानन्त्यायतन भूमि को भी समझना चाहिए ।

इनमें वाकाशानन्त्यायतन देवताओं की वायु बीस हजार कल्प हैं । विज्ञानानन्त्यायतन देवों की चालीस हजार, वकिञ्चानन्त्यायतन

१- सं० नि० ४०, ५, ५, ६, ४०, ७, ७, ८ भाग ४ पृ० २३७, ३८, ३९
ज० मि० सं० पृ० ४८५

२- विभा० पृ० १२५, प० दी० पृ० १६६

वाचार्य धनुरुद्ध (सं० रेतवत्त धम्म रामावर) जमि० सं० पृ० ४८५ पर उद्धृत ।

प्राप्त देवताओं की साठ हजार कल्प तथा नवसहस्रानासहस्रायुतन प्राप्त देवताओं की बीसवीं हजार कल्प हैं ।^१

रूपावचर कुसल कर्मी प्रथम ध्यान की सीमित भावना करने पर ब्रह्मपरिसङ्ग देवयोनि में उत्पन्न होता है। उसी प्रथम ध्यान की मध्यम वर्ण की भावना करने पर वह ब्रह्मपुरोहितों में उत्पन्न होता है तथा प्रणीत भावना करने पर महाप्रजाओं में । द्वितीय ध्यान में भी यही होता है । तृतीय ध्यान की भावना करने पर परित्तम देवयोनि में, मध्यम वर्ण की भावना करने पर अप्रमाणा-माओं में, प्रणीत भावना करने पर आभास्वर देवताओं में उत्पन्न होता है। चतुर्थ ध्यान की सीमित भावना करने पर परित्तमदेव योनि में, मध्यम वर्ण की भावना करने पर अप्रमाणा भुनों में तथा प्रणीत भावना करने पर भुम कृष्णों में वन्म होता है । पंचम ध्यान की भावना करने पर मनुष्य वैश्वतलों में उत्पन्न होता है । उसी पंचम ध्यान की 'संज्ञा' के प्रति विराग उत्पन्न करने वाली भावना का अभ्यास करने से असंख्यी सत्त्वों में जन्म ग्रहण होता है। आगामी शुद्धावासी में जन्म ग्रहण करते हैं ।^२

रूपावचर- कुसल कर्मी आरूप्य ध्यानों की भावना करते यथाग्रन आरूप्य ध्यानों में ही उत्पन्न होते हैं ।^३

उपर्युक्त देवताओं का संसार में वागमन कैसा हुआ इनका निर्माता कौन है, इसका वर्णन त्रिपिटकों में नहीं हुआ । दीर्घ निकाय के प्रथम एवं द्वितीय भाग में ब्रह्मा, तावतिन्त, यज्ञा, किन्नर, गन्धर्व आदि के

१- वैश्वे- वानन्द कौसल्यायन (हि० व०) धर्म० स० पृ० ५८

२- द्रष्टव्य- वानन्द कौसल्यायन , धर्म० स० (हि० व०) पृ० ५८

३- अथर्ववेद १०. १३५

३- रत्नसङ्घ-सौपीडिया वाफ रिक्लीज एण्ड रेथिक्स वाल्यूम -११

ऐश्वर्यों का वर्णन करते हुए केवल इतना ही कहा गया है कि पुण्यकर्मों के परिपाक के फलस्वरूप ध्यान के परिपक्व होने से इन देवलोकों में देवताओं का प्रादुर्भाव होता है। सृष्टि की प्रक्रिया कैसे होती है एवं इतमें इनका क्या योगदान है, इसका साक्षात् वर्णन नहीं मिलता किन्तु आध्यात्मिक क्रियाओं के आधार पर इन समस्त लोकों की उत्पत्ति होती है इसका ज्ञान हमें होता है।

यह बात सत्य है कि बौद्ध धर्म इस धरती पर सुधार करने उतरा था किन्तु फिर भी उस पर भारतीय परम्पराओं का प्रभाव अवश्य पड़ा। भारत में अधिकतर धर्मों में देवी देवताओं और प्रेतात्माओं सम्बन्धित विश्वासों का प्रचार किसी न किसी रूप में मिलता है। बौद्धों पर वैदिक धर्म का प्रभाव है। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि भगवान् बुद्ध स्वयं इस प्रकार के देवी देवता सम्बन्धी विश्वासों से प्रभावित थे। अपने इस कथन के प्रमाण के लिए उन्होंने त्रिपिटक से एक उद्धरण भी लिया है जिसमें बुद्ध कहते हैं कि मैं तैंतीस देवताओं के स्थान से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए अवतरित हुआ हूँ^१। बहुत से जातकों में भी इस प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं कि बोधिसत्त्व अपने पूर्व जन्म में तैंतालीस बार वृद्धा देवता हुए तथा एक बार किन्नर देवता भी^२। बहुत सी देवजातियों का तथा यक्षा, नाग, गन्धर्व आदि जातियों का वर्णन पालि निकायों में किया गया है। अतः इन जातियों की चर्चा आवश्यक है।

नाग

सुत्तनिपात के "उदानवग्ग" में नागराज का उल्लेख मिलता है। यह नागों का राजा था^३। इससे ज्ञात होता है कि नागों का भी लोक है।

१- एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथीक्स पृ० ५७७

२- वही

३- उदान २. १ मूवलिन्द सुत्त पृ० ७३

नागों का वर्णन एक देव मनुष्य मिश्रित जाति के रूप में पाया जाता है। इनमें कुछ लक्षण मनुष्यों के कुछ देवता के तथा कुछ विवेकहीन पशु के पाये जाते हैं। इनका सर्प के समान मुख एवं फेन होता है। इच्छानुसार वे मनुष्य का रूप धारण कर लेते हैं। जातकों में मनुष्य कन्या के साथ नागराज कुमार के विवाह की कथायें भी मिलती हैं^१। त्रिपिटकों में यक्षों का वर्णन भी कहीं कहीं प्राप्त होता है। किन्तु इनके विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं मिलती। ये एक प्रकार के प्राणी के रूप में वर्णित हैं जिनमें कुछ गुण तो मनुष्यों के से हैं कुछ भयावह पशुओं के तथा कुछ देवताओं के। इस आधार पर इन्हें मनुष्य तथा देवता के बीच के एक प्राणी विशेष के रूप में माना गया है^२।

ये विविध वर्णों के विशाल काय तथा मयप्रद व्यक्तित्व से युक्त होते हैं। इनकी आँखें लाल वर्ण की होती हैं^३। ये जहाँ चाहते हैं अपना निवास स्थान बना लेते हैं। इनमें आश्चर्य से भरा कद्वि-बल होता है, जिससे ये इच्छानुकूल विविध रूप धारण कर लेते हैं^४। कहीं ये मनुष्यों का कल्याण करते हुए दैत्य जाति हैं, कहीं उनको हानि भी पहुँचाते हैं। इनको भी आकृति अच्छे एवं बुरे कर्म के आधार पर ही मिलती है। अच्छे कर्मों के आधार पर इन्हें कामी कहा जाता है और विभिन्न प्रकार के आमोद प्रमोद इनको प्राप्त होते हैं^५।

त्रिपिटक में यक्ष शब्द का प्रयोग कई अर्थों में

१- जा० ६ , १५६

२- जी०सी० मालालाशिक डी० पी० पी० एन० पृ० २, ६७५, ६७६

३- जे० ४ , ४६२

४- जे० ३ , ३०६ , ३४५

५- जे० ४ , ४६२ द्रष्टव्य- जी०सी० मालालाशिक डी०पी०पी०एन० पृ० २, ६७६, ७५

देखा जाता है। दीर्घ निकाय के 'वाटानटिय सुत्त' में इन्हें अभनुष्य कहा गया है। संयुक्त निकाय के 'गन्धर्व्येन सुत्त' में यह शब्द देवता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

'वाटानाटिय सुत्त' तथा 'महासमयसुत्त' से प्रकट होता है कि यद्यपि भारत के सभी प्रदेशों में रहते थे, किन्तु उत्तरी भारत के पर्वतीय भू-भाग में इनका विशेष आधिपत्य था। उत्तर कुरु इनका राज्य तथा अक्षनन्दा इनकी राजधानी थी।

गन्धर्व

यह भी एक देव जाति का नाम है। इनका स्थान मनुष्यों से ऊपर तथा देवताओं में सबसे नीचे है।

गन्धर्व कृद्धि सम्पन्न होते हैं। वे इच्छानुसार मनुष्य एवं देवलोक में विचरण करते हैं। कर्ह गन्धर्व देवराज शक्र की सेवा में दैते जाते हैं। मातलि शक्र का सारथी है। पंचशिक्ष गायक का कार्य करता है। वह अपनी वीणा के मधुर स्वर से शक्र का मनोरंजन करता है। सुरिय वचसा नर्तकी का कार्य करती है। इसके विपरीत उनके विध्वंसक कार्य भी दैते जाते हैं। कुछ ऐसे भी गन्धर्व का उल्लेख है, जो ध्यानरत भिक्षु एवं भिक्षुणियों को विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उपस्थित करते हैं। कहीं कहीं इनका उल्लेख असुर एवं नागों के साथ किया गया है।

१- दी० नि० ६. ४. १४ भाग ३ पृ० १६०

२- सं० नि० १. ४. १४ भाग १ पृ० २०५

३- दी० नि० ६. १. ७ पृ० १५४

४- दी० नि० ४. ३. १४, ५. ४. १४ भाग २ पृ० १५७, २०६ स्कण्डपञ्च सुत्त

५- दी० नि० ६. २. ८ भाग २ पृ० १५६

दीर्घ निकाय के 'महासमय सुत्त' के अनुसार पूर्व दिशा के लोक पाल धर्तरट् गन्धर्वों के राजा है। अतः ये चातुर्मेहाराजिक देवलोक के निवासी कहे जा सकते हैं।

'अंगुत्तर निकाय' के 'पहरादसुत्त' में वे महासागर निवासी कहे गये हैं। उनका शरीर विशाल तथा भयावह होता है। 'दोणसुत्त' के अनुसार वे आकाश में रहने वाले प्राणी हैं। उन्हें स्थलवासी भी कहा गया है। इस प्रकार जल, स्थल, आकाश एवं देवलोक में निवास की दृष्टि से उनके चार प्रकार होते हैं। गन्धर्व योनि भी कर्मों के बल पर ही प्राप्त होती है।

सृष्टि के प्रसंग में पालि निकायों में उपलब्ध कुछ भौगोलिक वर्णन

नगरद्वीप एवं समुद्र वर्णन

सृष्टि प्रक्रिया में जम्बू द्वीप का वर्णन रोचक है। इसका वर्णन त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर आया है। जम्बू द्वीप से जामुन के वृक्षा हैं जो अत्यन्त रसदायी हैं एवं उनमें बड़ी अच्छी सुगन्ध आती है। इसके फलों को तपस्वी खाते हैं। यह दस हजार योजन विस्तृत है। मध्य प्रदेश मध्य देश है। जिसमें कर्जगल एक शहर है। उसके बाद शाल्वनर है और उससे आगे सीमान्त देश है, तथा उसके बाद सीमान्त जनपद है। इसके मध्य में पूर्व दक्षिण दिशा में सलत्सती नदी है। उसके बाद सीमान्त जनपद है, उसके मध्य में मध्य देश है। दक्षिण दिशा में स्वैतकर्णिक नामक किनारा है। उसके बाद सीमान्त जनपद है। इन दोनों के मध्य में, मध्यदेश है। पश्चिम दिशा में ध्रुण नामक

१- अ० नि० ८. ६. २ भाग ३ पृ० ३०८

२- अ० नि० ४. ६ भाग २ पृ० ४१

३- महावग्ग १. १४. ४१ पृ० ३०

ब्राह्मणों का एक गाँव है और उसके बाद सीमान्त जनपद है। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है। मध्यदेश की लम्बाई ३०० योजन है चौड़ाई २५० योजन है। इसी प्रदेश में बुद्ध प्रत्येक बुद्ध, प्रधान अग्रजावक, प्रधान महाअजावक और ८० महाअजावक ऐश्वर्यशाली क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि जातियों की परिनिष्ठित कुल परम्परा है। वहाँ कपिलवस्तु नाम का एक नगर है। वहीं पर बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था।

जम्बू द्वीप में ही हिमन्त प्रदेश साठ योजन विस्तृत है। उसी में साठ योजन विस्तृत मनःशिला नाम की एक पत्थर की चट्टान है। उसके बराबर शाल्वृक्षा हैं जिसकी छाया सात योजन तक फैली हुई है। समस्त दिग्पालों की देवियाँ इसमें रहती हैं।

इस अवलोकन से लोक सम्बन्धी एवं मनुष्य सम्बन्धी रचना का स्वरूप स्पष्ट होता है।

नदी सरोवर एवं पर्वत वर्णन

दीर्घ निकाय के ब्रह्मसहस्रनाम परिच्छेद में अचिरवती नाम की एक नदी का उल्लेख है। इस नदी के तट के इस पार और उस पार इन्द्र, सोम, वरुण, प्रजापति, ब्रह्मा, महेन्द्र और यम का आगमन होता था। इसका तात्पर्य है कि यह नदी अति पवित्र है तभी ये सारे ब्रह्मा इसके तट पर आते थे एवं स्नान करते थे।

ब्रह्मा सुनन्त कुमार के प्रादुर्भाव की कथा का उल्लेख

१- डा० महेश तिवारी- नि० क० पृ० १२०, १२४

द्रष्टव्य- पंचमहावलोकन वर्णन में महामाया देवी का स्वप्न वर्णन पृ० १२४

२- डा० महेश तिवारी - नि० क० पृ० १२४

३- दी० नि० १३, ३, २५ भाग १

करते हुए 'ब्रह्मसर' नामक तालाब का वर्णन है। वह अत्यन्त गंभीर मंजुल एवं सेवनीय है। ज्ञान की पिपासा ध्यान से शान्त होती है और ध्यानी पुरुष ब्रह्मसर में प्रादुर्भावि प्राप्त करता हुआ सुख प्राप्त करता है। ब्रह्मलोक अमृत लोक है, इस लोक की ममता का परित्याग करके ब्रह्मसर नामक लोक में प्रादुर्भावि होता है।

'अंगुत्तर निकाय' के 'पहराद सुत्त' में समुद्र का वर्णन करते हुए कहा गया है कि असुरों का निवास स्थान समुद्र है। वहीं पर विभिन्न प्रकार की नदियों का भी उल्लेख है वे हैं गंगा, यमुना, सरयु, अचिरवती इत्यादि।

निमि जातक में ७ प्रकार के पर्वतों का उल्लेख मिलता है। ये पर्वत हैं- सुदस्सन, करवीक, ईसधर, युगन्धर, नेमिन्धर, विनतक तथा अस्सकण्ण। इन पर्वतों पर महाराजाओं के स्थान हैं। इन पर्वतों के बीच बीच में महासमुद्र है।^२

अनोतत्तादह

यह एक सरोवर का नाम है जो हिमालय पर स्थित बतलाया जाता है। यह एक सौ पचास योजन चौड़ा तथा पचास योजन गहरा है। सुदस्सनकूट, चिरकूट, कालकूट, गन्धमादन पर्वत तथा कैलास नामक पांच पर्वत कूटों से यह क्षुद्रिक परिवृत्त है। इन पर्वत कूटों के मध्य में स्थित होने के कारण सूर्य तथा चन्द्र की किरणें सीधे इसके जल पर नहीं पड़तीं। फलतः इसका जल सदा शीतल बना रहता है। इसके अनोतत्त (अनवत्त शीतल) दह कहलाने का यही कारण है।^३

१- अ० नि० ८. ६. ५ भाग ३ पृ० ३०७

२- निमि जातक पृ० १४२ 'सुदस्सनो करवीको ईसधरो युगन्धरो

नेमिन्धरो विनतको अस्सकण्णो गिरिब्रह्मा ।

३- अ० ४० स० १४, १५ देखिये- महेश तिवारी- निदान कथा पृ० २३८

इस सरोवर का जल बहुत पवित्र सम्झा जाता है।

बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, अरहत्त तथा अनेक देवता आकर इसमें स्नान करते थे। बुद्ध जब देवलोक में जाकर अपनी माँ को अभिधर्म का उपदेश दे रहे थे तो वे प्रतिदिन पूर्वाह्न में यहीं आकर स्नान किया करते थे। वे पुनः उत्तरकुरु से पिण्डपात का संग्रह कर यहीं बैठकर भोजन करते थे।

पर्वतों में गिज्जकूट पर्वत का वर्णन प्रायः आया है जहाँ बुद्ध बैठकर भिक्षुओं को उपदेश दिया करते थे।

इस प्रकार उपर्युक्त भौगोलिक वर्णन से ज्ञात होता है कि इस संसार की जिस समय सृष्टि हुई एवं उस के बाद जो पृथ्वी ने रूप धारण किया उसका एक सुन्दर वर्णन उक्त उद्धरणों के द्वारा हो जाता है।

000

१- अठ्ठ० स० १४, १५ देखिये महेश तिवारी- निदान कथा पृ० २३८

आचार ग्रन्थावली

बाधार ग्रन्थावली

(क) मूल प्रीत

अंगुत्तर निकाय पालि	सं० भिक्षु जगदीसकस्सपो रक्क- दुक्क- तिक निपाता नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थ मालाय बिहार राजकीयन पालिफकासन मण्डलेन फकासिता , १९६०
अंगुत्तर निकाय पालि	सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो क्कुक्क- पक्कनिपाता नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थ मालाय बिहारराजकीयन पालिफकासन मण्डलेन फकासिता , १९६०
अंगुत्तर निकाय पालि	सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो उक्क सत्तक वट्टक निपाता नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थ मालाय बिहारराजकीयन पालि फकासन मण्डलेन फकासिता , १९६०
अंगुत्तर निकाय (हि० अनु०)	भदन्त आनन्द कौसल्यायन भाग ३ महाबोधि समा, कलकत्ता , १९६६

गठरालिनी

पी० वी० बापट एवं आर० डी० वेडेकर
फर्ग्युसन कॉलेज, पूना , १९४२

दथावत्थु पालि (अभियन्मपिटके)

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमालाय
बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डलेन
प्रकाशिता , १९६१

सुद्धक निकाय पालि

सुद्धक पाठ, धम्मपद, उदान

इतिवृत्तिक- सुत्तनिपात् पालि

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमालाय
बिहारराजकीय पालि प्रकाशन
मण्डलेन प्रकाशिता ,
१९५६

सुद्धक निकाय पालि

लपदान, सुद्धक, चरिया-

पिटक पालि

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमालाय
बिहारराजकीय पालि प्रकाशन मण्डलेन
प्रकाशिता
१९५६

सुद्धक निकाय पालि

विमान वत्थु- पेतवत्थु

थेर गाथा- थेरी गाथा पालि

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमालाय
बिहारराजकीय पालि प्रकाशन
मण्डलेन प्रकाशिता
१९५६

सुद्धक निकाय पटिसम्भिमवमग्गपालि	सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो नालन्दा देवनागरी पालि गन्थमालाय बिहारराजकीयन पालि प्रकासन मण्डल १९६०
सुल्ल वग्ग पालि (विनयपिटके)	सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो नालन्दा देवनागरी पालि गन्थमालाय बिहारराजकीयन पालि प्रकासन मण्डल १९५६
जातक सण्ड ६	अनु० जानन्द कौशल्यायन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २०१३
जातक निदान कथा अट्ठकथा चरिय	बुद्धघोस विरचिता अनु० डा० महेश तिवारी बौलन्दा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी- १ १९७०
दीघ निकाय पालि भाग -१ सीलखन्धवग्गो	सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो नालन्दा देवनागरी पालि गन्थमालाय बिहारराजकीयन पालि प्रकासन मण्डल १९५८
दीघ निकाय पालि भाग २,३ महावग्गो, पाथिक वग्गो	सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो नालन्दा देवनागरी पालि गन्थ मालाय बिहार राजकीयन पालि प्रकासन मण्डल १९५८

धम्मसङ्गाणि पालि
(अमिधम्म पिटके)

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा देवनागरी पालि गन्थ मालाय
बिहारराजकीयन पालि प्रकाशन मण्डल
१९६०

पाचित्तयं पालि

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा- देवनागरी पालि गन्थ मालाय
बिहार राजकीयन पालि प्रकाशन मण्डल
१९५८

महावग्ग पालि
(विनयपिटके)

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो
नालन्दा देवनागरी पालि गन्थ मालाय
बिहारराजकीयन पालि प्रकाशन मण्डल
१९५६

मज्झिम निकाय पालि भाग १
मूलपण्णसकं

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो एवं बी० पी०
बाप्ट
नालन्दा देवनागरी पालि गन्थ मालाय
बिहार राजकीयन पालि प्रकाशन मण्डल
१९५८

मज्झिम निकाय

अनु० राहुल साकृत्यायन
महाबोधि समा
वाराणसी
१९७०

मज्झिम निकाय पालि
भाग २, ३

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो एवं राहुल
साकृत्यायन
नालन्दा देवनागरी पालि गन्थमालाय
बिहारराजकीयन पालि प्रकाशन मण्डल
१९५८

यमक पालि

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो

नालन्दा देवनागरी पालि गन्ध मालाय

बिहारराज क्रीयन पालि प्रकासन मण्डल

१९६१

विमंग पालि (अमिधम्म
पिटो)

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो

नालन्दा देवनागरी पालि गन्ध मालाय

बिहार राजक्रीयन पालि प्रकासन मण्डल

१९६०

संयुक्त निकाय पालि

सं० भिक्षु जगदीस कस्सपो

भाग १, २, ३, ४, ५

नालन्दा देवनागरी पालि गन्ध मालाय

बिहारराजक्रीयन पालिप्रकासन मण्डल

१९५६

सम्पोहविनोदनीनाम विमंगट्ठकथा

सं० प्रो० एस० मुखर्जी एवं डा० जे० धम्मरत्न

नव नालन्दा महाविहार

नालन्दा, पटना ,

१९६१

(स) अन्य सहायक ग्रन्थ

- वाचार्य अनुरुद्ध
 सं० रेवत प्रम्व एवं रामशंकर त्रिपाठी
 वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय,
 वाराणसी- २
 १९६७
- बुद्ध घोषा
 सं० बदरीनाथ शुक्ल
 विशुद्धि मंगो (प्र० द्वि० भाग , १)
 वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय,
 वाराणसी- २
 १९६६
- वसु बन्धु
 सं० स्वामी जगन्नाथदास शास्त्री
 अभिधर्म कोशम्
 बौद्ध भारती
 वाराणसी
 १९७०
- वसु बन्धु
 सं० जगन्नाथदास शास्त्री
 अभिधर्म कोशम् भाग २, ३
 बौद्ध भारती
 वाराणसी
 १९७१-७२
- वाचार्य नरेन्द्र देव
 अभिधर्म कोशम् (हि० अनु०)
 हिन्दुस्तानी स्टेडिमी
 स्लाहाबाद
 १९५८

वसु वन्दु

सं० तथा अनु० डा० महिष तिवारी

विज्ञात्तिमात्र सिद्धि

बौद्धिक विधा भवन

वाराणसी

१९६७

(ग) वैदिक ग्रन्थ

अग्निव

सं० पं० श्री राम शर्मा आचार्य

संस्कृति संस्थान, बरेली

तृ० सं० , १९६५

अग्निव संस्कृति

सं० सं० डॉ० राम शर्मा आचार्य

संस्कृति संस्थान, बरेली

वैदिक संशोधक मण्डल, १९४६

शतपथ ब्राह्मण

सं० अश्वमेध बरेली

बौद्धिक संस्कृति ग्रन्थ माला वाराणसी

१९६४

अथर्व वेद

सं० पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

संस्कृति संस्थान , बरेली

तृ० सं० , १९६५

मनुस्मृति

सं० पं० श्री राम शर्मा आचार्य

संस्कृति संस्थान, बरेली

प्रथम संस्करण , १९६६

स्तरेय उपनिषद्

सं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
स्वाध्याय मण्डल,
जिला सूरत
१९५६

मुण्डक उपनिषद्

सं० श्रीपाद दामोदर
साहित्य वाचस्पति, गीतास्कार
स्वाध्याय मण्डल, सूरत
सं० १००६

तैत्तिरीय उपनिषद्

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
स्वाध्याय मण्डल
जानन्द आश्रम
पारडी, जिला सूरत
१९५६

प्रश्नोपनिषद्

सं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
स्वाध्याय मण्डल
जानन्द आश्रम
जिला सूरत ,
संवत् २००७

कठोपनिषद्

सं० पं० श्री राम शर्मा आचार्य
संस्कृति संस्थान, वरेली
झि० सं० ,
१९६३

वैदिक धर्म एवं दर्शन

मूल लेखक- वीथ

अनु० डा० सूर्यकान्त

मोतीलाल बनारसी दास , दिल्ली,

प्र० सं० १९६३

वैदिक दर्शन

डा० फतेह सिंह

लीडर प्रेस,

इलाहाबाद

सं० १९४०

(घ) दर्शन ग्रन्थ

भरतसिंह उपाध्याय

बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग २

बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता,

सं० २०११ वि०

रत० राधाकृष्णन्

भारतीय दर्शन भाग १

हि० अनु० नन्दकिशोर गोविल

कलकत्ता विद्यापीठ

कलकत्ता

राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

प्र० सं० १९६६

राहुल साँपृत्यायन

बौद्ध दर्शन

किताब महल,

इलाहाबाद

१९८०

आचार्य नरेन्द्र देव

बौद्ध धर्म दर्शन

बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् सम्मेलन,

पटना- ३

प्र० सं० १९५६

रम० हिरियन्ना

भारतीय दर्शन की रूपरेखा

अनु० गौवर्धन भट्ट

राजकमल प्रकाशन,

दिल्ली- ७

१९६५

डा० नलिनाकादत्त

उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास

प्रकाशक व्यूरो

उत्तर प्रदेश सरकार

लखनऊ

प्र० सं० १९५६

भागवन्द भास्कर

बौद्ध संस्कृति का इतिहास

आलोक प्रकाशन,

प्र० सं० १९७२

धर्मानन्द कोसाम्बी

भगवान् बुद्ध

(अनु० दीपाद जोशी)

राजकमल प्रकाशन,

साहित्य स्कैमि

दिल्ली, इलाहाबाद, बम्बई

प्र० सं० १९५६

डा० सरला त्रिगुणाक्ष

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म
का प्रभाव

साहित्य निवेदन

कानपुर , प्र० सं० १९६३

जुनि श्री नगराज जी

महावीर चौक दु० की समसामयिकता

जात्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-७

१९६८

डा० प्रकाश

भारतीय सृष्टि विद्या

भारतीय ज्ञान-पीठ प्रकाशन,

वाराणसी

प्र० सं० १९७४

(ड०) कोश भाग

मदनत ज्ञानन्द कौस्तुभ

पालि हिन्दी कोश

राजकमल प्रकाशन,

दिल्ली, पटना

प्र० सं० १९७५

सं० तारिका दास शास्त्री

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

पं० तारिणी शूक्ला व्या-

रामनारायण बेनी प्रसाद,

करणवेदान्ताचार्य

इलाहाबाद, तृ० सं० १९६७

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म

का प्रभाव

साहित्य निवेदन

कानपुर, प्र० सं० १९६३

तुनि श्री नगराय जी

महावीर और बुद्ध की समसामयिकता

बात्माराम रण्ड सन्त, दिल्ली-७

१९६८

डा० प्रकाश

भारतीय दृष्टि विधा

भारतीय ज्ञान-पीठ प्रकाशन,

वाराणसी

प्र० सं० १९७४

(३०) कौश भाग

भदन्त जानन्द कौस्तुभ

पालि हिन्दी कौश

राजकमल प्रकाशन,

दिल्ली, पटना

प्र० सं० १९७५

सं० तारिका दास शास्त्री

पं० तारिणी सूफा व्या-

करणवेदान्तादायी

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

रामनारायण जेनी प्रसाद,

रत्नाशवाव, तृ० सं० १९६७

(च) ज्ञेय ग्रन्थ

Dr. Edward Thomas

History of Buddhist Thought
Routledge and Kegan Paul Ltd.
London, 1951.

G.C. Pandey

Origin of Buddhism
Motilal Banarasi Das
Delhi, 11th Ed., 1974.

Dr. Hermann Olden Berg

Buddha his life his order
Doctrine
Indological Book House
Varanasi, Delhi, 1971.

Bahadur Mal

The Religion of Buddha and its
relation to the Upanishad
Thought.
Hoshiarpur, 1958.

Mrs. Rhys Davids

Buddhism
Indological Book House
Varanasi, 1973.

G.C. Malalasekera

Dictionary of Pali ~~Pro~~
proper names
Vol. 1, 2.
John Murray Albemarle Street
W.I.
Published of the Govt. of
India, 1938.

A.K. WARDER

Introduction to Pali
Pali Text Society
Messrs Luzac and Company
LTD. London, W.C.I.
1963.

James Hastings

Encyclopaedia of Religion
and Ethics,
Vol. 4, 11, 12
T&T Clark Charles Scribner
Sons, New York
1954, 58.